Chap-1

:: प्रथम अध्याय ::

:: विषय-प्रवेश ::

:: प्रथम अध्याय ::

:: विषय-प्रवेश ::

प्रास्ताविक :

मेरा यह शोध-कार्य हिन्दी के तीन विशिष्ट शिल्प एवं भाषाशैली तथा विशिष्ट भाषिक संरचना युक्त उपन्यासों के संदर्भ में है। ये तीन उपन्यास हैं – 'राग दरबारी' (श्रीलाल शुक्ल, सन 1968), 'मुझे चांद चाहिए' (सुरेन्द्र वर्मा, सन 1993) और 'काशी का अस्सी' (काशीनाथ सिंह, सन 2002)। इन उपन्यासों में प्रयुक्त भाषिक-संरचना को केन्द्रस्थ करते हुए यह शोध-प्रबंध अग्रसरित हुआ है। अतः 'विषय-प्रवेश' के इस प्रथम अध्याय में मैंने निम्नलिखित मुद्दों की सविशेष चर्चा की है। -- हिन्दी उपन्यास के विकास की अति-संक्षिप्त रुपरेखा, भाषा की परिभाषा, उपन्यास की भाषा, हिन्दी गद्य का विकास, उपन्यास की भाषा: विभिन्न स्तर, उपन्यास और यथार्थ, यथार्थ और भाषा, भाषिक-संरचना से तात्पर्य आदि-आदि। चूंकि शोध-कार्य उपन्यास पर है, उपन्यास के विकास के अति-संक्षिप्त रुपरेखा प्रस्तुत की गई है। अति-संक्षिप्त इसलिए कि अनेक शोध-प्रबंधो में इस मुद्दे को विशेष रूप से निबद्ध किया जाता है। अतः केवल महत्वपूर्ण पड़ावों और सीमाचिहन-रूप उपन्यासों की चर्चा यहां हुई है। शोध-प्रबंध उपन्यास-त्रयी— 'राग दरबारी', 'मुझे चांद चाहिए' और 'काशी का अस्सी' की भाषा के संदर्भ में है, अतः यहां पर भाषा को परिभाषित करने का भी मेरा एक उपक्रम रहा है। तदुपरांत उपन्यास की भाषा पर भी दृष्टिपात कर किया गया है। भाषा के दो रूप होते हैं – पद्य और गद्य। उपन्यास की तमाम परिभाषाएं उसके व्यावर्तक अभिलक्षण के रूप में यह रेखांकित करती है कि उपन्यास गद्य की विधा है। पद्य में आख्यान लिखे जाते हैं, उपन्यास नहीं। अतः हिन्दी गद्य के उद्भव

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
The M. S. University of Baroda

और विकास पर भी कुछ विचार कर लिया गया है। यह तो एक सर्वविदित तथ्य है कि सभी भाषाओं में चिंतन-मनन, विचार-विमर्श, विश्लेषण इत्यादि के लिए गद्य सक्षम हुआ उसके उपरान्त ही उपन्यास का उदभव हुआ है। उपन्यास की जो भाषा है, उसका जो गद्य है, उसके भी कई-कई स्तर है। कई बार तो एक ही उपन्यासकार के अलग-अलग परिवेश व शिल्प के उपन्यासों की भाषा के स्तर में वैविध्य पाया जाता है। उदाहरणतया यदि हम शैलेश मटियानी के उपन्यासों को लेते हैं तो 'हौलदार', 'किस्सा नर्मदाबेल गंगूबाई', 'आकाश कितना अनंत है', 'बर्फ़ गिर चुकने के बाद' जैसे उपन्यासों में हमें भाषा के विभिन्न स्तर मिलते हैं। केवल जैनेन्द्रकुमार को छोड़कर अधिकांश हिन्दी उपन्यासों के आलोचक एक बात को लेकर सहमत है और वह यह कि उपन्यास यथार्थ की विधा है। विषय-वस्तु, पात्र-सृष्टि, कथोपकथन, परिवेश या देशकाल आदि सभी औपन्यासिक तत्वों में यथार्थ का आग्रह पाया जाता है। यथार्थ के इस आग्रह के कारण भाषा भी उसके अनुरुप होती है। भाषिक-संरचना से हमारा क्या तात्पर्य है और उसमें हम किन-किन उपादानों को लेने वाले हैं, उसकी चर्चा भी यहां अपेक्षित है। उसके उपरान्त अध्याय के अन्त में सम्रगावलोकन की प्रक्रिया से समूचे अध्याय के कतिपय निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं और यह प्राय: सभी अध्यायों में (उपसंहार को छोड़कर) रहेगा। अध्याय के अंत में 'संदर्भानुक्रम' रहेगा।

हिन्दी उपन्यास के विकास की अति-संक्षिप्त रूप रेखा :

सभी भारतीय भाषाओं की भांति हिन्दी में भी उपन्यास का आविर्भाव अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव-स्वरूप हुआ। यूरोप में भी अपेक्षाकृत यह एक नूतन विधा थी। उत्क्रांति (Rainessance) के उपरान्त नवीन-परिवर्तन जीवन-मूल्यों के रूपायन हेतु इस विधा का जन्म हुआ, इसीलिए तो उसे 'नोवेल' कहा गया। 'नोवेल' का अर्थ ही नवीन या नया होता है। पत्रकारिता तथा एडीसन, स्टील आदि निबंधकारों के प्रयत्न-स्वरूप जब अंग्रेजी गद्य वर्णन, विवेचन और चित्रण के उपयुक्त हो गया तब 'नोवेल' जैसी विधा का आविर्भाव हुआ था।[1] अंग्रेजी उपन्यास का निर्भान्त रूप डेनियल डिफ़ो के 'रोबिन्स क्रूसो' में उपलब्ध होता है। डिफ़ो को साधारणतः अंग्रेजी उपन्यास का जन्मदाता कहा जाता है। यह अठारहवीं शताब्दी

का समय है। रिचर्डसन (पामेला), फ़ील्डिंग (टाम जोन्स), स्मालेट, स्टर्न आदि डिफ़ो के समकालीन अठारहवीं शताब्दी के लेखक हैं।[2] हमारे यहां जब अंग्रेजों का शासन स्थापित हुआ तब अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव-स्वरूप यह साहित्य-प्रकार (नोवेल) उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द में आया। हिन्दी का प्रथम उपन्यास (प्रकाशन-तिथि की दृष्टि से) आर्यसमाजी पंडित श्रद्धाराम फ़ुल्लौरी कृत 'भाग्यवती' सन 1868 में प्रकाशित हुआ था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लाला श्रीनिवासदास द्वारा प्रणीत उपन्यास 'परीक्षागुरू' को हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना है,[3] परंतु उसका प्रकाशन सन 1882 में हुआ था। इधर सन 2010 में पिलग्रिम्स पब्लिशंग, वाराणसी से रामनाथ शिवेन्द्र का 'तीसरा रास्ता' उपन्यास प्रकाशित हुआ है जो एन॰ जी॰ ओ की भूमिका और सोनपुर जनपद की पृष्ठभूमि को लेकर लिखा गया है।[4] इस प्रकार हिन्दी उपन्यास का आयुष्य एक सौ बयालीस साल का ठहरता है।

इन एक सौ बयालीस वर्षों के हिन्दी उपन्यास को तीन सोपानों में विभक्त किया गया है - (1) पूर्व-प्रेमचंदकाल (सन 1868-1918), (2) प्रेमचन्दकाल (सन 1918-1936) और (3) प्रेमचन्दोत्तर काल (सन 1936-अद्यावधि)। प्रेमचन्दोत्तरकाल को पुनः स्वातंत्रयोत्तरकाल, साठोत्तरकाल और समकालीन में विभक्त किया गया है। सन 1947 से 1960 स्वातंत्रोत्तरकाल कहा जाता है। सन 1960 से सन 1980 के उपन्यास साठोत्तरी कहलाते है और सन 1980 से अभी तक के उपन्यास 'समकालीन उपन्यास' की कोटि में आते हैं। हमारे आलोच्य उपन्यासों में 'राग दरबारी' साठोत्तरी की कोटि में आता है और अन्य दो उपन्यास 'मुझे चांद चाहिए' तथा 'काशी का अस्सी' समकालीन उपन्यासों में परिगणित होते है।

पूर्व-प्रेमचन्दकाल में हमें पांच औपन्यासिक प्रवृत्तियां मिलती हैं - सामाजिक उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास, तिलस्मी उपन्यास, जासूसी उपन्यास और अनूदित उपन्यास। इनमें तिलस्मी और जासूसी प्रकार के उपन्यासों को साहित्यिक और स्तरीय उपन्यास नहीं कह सकते, अतः परवर्ती कालखण्डों में आलोचकों ने उनका उल्लेख नहीं किया है, हालांकि ऐसे उपन्यास

लिखे तो अभी जा रहे हैं। अनूदित उपन्यास मूल भाषा की धरोहर समझे जाते हैं, अतः उनका उल्लेख भी परवर्ती कालों में नहीं हुआ है। इस कालखण्ड के सामाजिक-ऐतिहासिक उपन्यास अपनी प्रारंभिक अवस्था में है। वे स्थूल कथावस्तु-प्रधान, बोधप्रधान और मनोरंजनप्रधान तथा अपरिपक्व एवं अस्तरीय हैं। इस कालखण्ड के उल्लेखनीय सामाजिक-ऐतिहासिक उपन्यासों में 'भाग्यवती' (पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी), 'परीक्षागुरु' (लाला श्रीनिवासदास), 'सौ अजान एक सुजान' (पंडित बालकृष्ण भाट्ट), 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (अयोध्यासिंह उपाध्याय), 'निस्सहाय हिन्दू'(राधा कृष्णदास), 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' (मेहता लज्जाराम शर्मा), 'रामलाल' (मन्नन द्विवेदी), 'श्यामा स्वप्न' (ठाकुर जगमोहन सिंह), 'सौन्दर्योपासक' (बाबू ब्रजनंदन सहाय), 'सुल्ताना रजिया बेगम' (किशोरीलाल गोस्वामी), 'नूरजहां' (गंगाप्रसाद गुप्त), 'पृथ्वीराज चौहान' (बलदेवप्रसाद मिश्र), 'मल्का चांदबीबी' (जयरामदास गुप्त), आदि की गणना की जा सकती है।[5] इस कालखण्ड के ऐतिहासिक उपन्यासों को ऐतिहासिक उपन्यास न कहकर ऐतिहासिक रम्याख्यान (Historical Romances) कहना अधिक उपयुक्त होगा।[6]

वस्तुतः वास्त्विक सामाजिक-ऐतिहासिक उपन्यासों का सूत्रपात प्रेमचंदकाल मे मुंशी प्रेमचंद तथा वृन्दावनलाल वर्मा द्वारा हुआ। हिन्दी उपन्यास को उसका वास्तविक गौरव मुंशी प्रेमचंद ने ही दिलाया। मानव-चरित्र की सर्वप्रथम पहचान करानेवाले मुंशी प्रेमचंद ही है।[7] पूर्व-प्रेमचंदकाल में देवकीनंदन खत्री और बाबू गोपालराम गहमरी ने हिन्दी उपन्यास को लोकप्रिय तो किया, परंतु साथ ही उपन्यास को पथभ्रष्ट भी कर दिया। जिसे पुनः पटरी पर लाने का कार्य मुंशी प्रेमचंद ने किया। डॉ· रामविलास शर्मा हिन्दी में प्रेमचंद के आविर्भाव के संदर्भ में लिखते हैं -- " 'चन्द्रकान्ता' और 'तिलिस्म होशरूबा' के पढ़ने वाले लाखों थे। प्रेमचंद ने इन लाखों पाठकों को 'सेवासदन' का पाठक बनाया। यह उनका युगान्तकारी काम था। प्रेमचंद ने 'चंन्द्रकान्ता' के पाठकों को न केवल अपनी ओर खींचा, 'चन्द्रकान्ता' में अरुचि भी पैदा की, जन-रुचि के लिए उन्होंने नए मापदण्ड कायम किए। यह उनकी जबरदस्त सफ़लता थी।"[8] जिस हिन्दी

उपन्यास को कोई पूछता नहीं था उसे विश्व-साहित्य में स्थापित करने का श्रेय प्रेमचंद को ही जाता है। उनकी तुलना रुसी उपन्यासकार गोर्की के साथ होने लगी।[9] अभी हाल ही में 'विचारधारा पर आधारित समाजों की शिनाख्त' शीर्षक के अंतर्गत अपनी संपादकीय 'मेरी तेरी उसकी बात' में डॉ॰ राजेन्द्र यादव लिखते हैं—"तभी और रुसी साहित्यकार पढ़े : तालस्तोय, गोर्की। गोर्की का उस समय क्रेज था। जिसने उस समय गोर्की नहीं पढ़ा, विशेष रूप से उसकी 'मां', समझिए, लगभग अनपढ़ था"।[10] तो ये थे प्रेमचंद। हिन्दी साहित्य के इतिहास में कविता के क्षेत्र में जिसे छायावाद कहा गया, उसे कथा-साहित्य में 'प्रेमचंद युग' कहा गया। प्रेमचंद ने वायवी प्रकार के हिन्दी उपन्यास को यथार्थ से जोड़ा। उसे सामाजिक सरोकारों से संपृक्त किया। प्रेमचंद के प्रमुख उपन्यासों में 'सेवासदन', 'गबन', 'निर्मला', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' आदि है। हिन्दी उपन्यास का सर्वाच्च शिखर हमें 'गोदान' के रूप में मिलता है। उसके रूसी अनुवाद की लाखों प्रतियां रातोंरात बिक जाती है। प्रेमचंद ने न केवल लिखा, बल्कि 'हंस' और 'जागरण' जैसी पत्रिकाओं के द्वारा हिन्दी के अनेक लेखकों को लिखने लिए प्रेरित किया और यथार्थवादी प्रगतिशील विचारधारा के लेखकों की एक समूची पीढ़ी तैयार की। प्रेमचंद युग के लेखकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिश', पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', वृन्दावनलाल वर्मा, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, ऋषभचरण जैन, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, राजा राधिकारमणप्रसाद सिह, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला", सियारामशरण गुप्त, गोविन्दवल्लभ पंत, धनीराम प्रेम, प्रफुल्ल चन्द्र ओझा, श्रीनाथ सिंह, उषादेवी मित्रा, तेजोरानी दीक्षित, जैनेन्द्र कुमार, शिवरानी देवी (प्रेमचंद की पत्नी), जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा आदि की गण्ना कर सकते है।[11] इनमें अंतिम जीन का लेखन अपने प्रारंभिक कृतित्व में था। उनकी कला का विकास बाद में "प्रेमचन्दोत्तर युग" में हुआ। प्रेमचंदयुग में मुख्यतया दो औपन्यासिक प्रवृत्तियां उपलब्ध होती है—सामाजिक उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यास हालांकि मनोवैज्ञानिक उपन्यास का सूत्रपात जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी द्वारा हो गया था।

प्रेमचंद युग के सामाजिक उपन्यासों में (प्रेमचंद के उपन्यासों को छोडकर) निम्नलिखित को उल्लेखनीय कहा जा सकता है – "मां", "भिखारिणी" (कौशिक), "घंटा", "चंद हसीनों के खतूत" (पत्रशैली का हिन्दी का प्रथम उपन्यास), "बुधुआ की बेटी"(उग्रजी), "लगन", "संगम", "प्रेमकी भेंट", (वृन्दावनलाल वर्मा), "हृदय की परख", "हृदय की प्यास", "अमर अभिलाषा" (आचार्य चतुरसेन शास्त्री), "त्यागमयी", "पतिता की साधना", (भगवतीप्रसाद वाजपेयी), "भाई", "वेश्यापुत्र", "दिल्ली का व्यभिचार", "दुराचार के अड्डे" (ऋभष चरण जैन), "तपोभूमि" (सहलेखन शैली का प्रथम उपन्यास, सहलेखक-जैनेन्द्र), "कंकाल" (जयशंकर प्रसाद), "अप्सरा", "अलका", "निरुपमा", (निराला), "गोद", "अंतिम आकांक्षा" (सियारामशरण गुप्त), "मदारी" (गोविन्दवल्लभ पंत); 'वेश्या का हृदय' (धनीराम प्रेम); 'वचन का मोल' (उषादेवी मित्रा); 'हृदय का कांटा' (तेजोरानी दीक्षित); 'नारी-हृदय' (शिवरानीदेवी); 'पतन' (भगवतीचरण वर्मा); 'घृणामयी' (इलाचन्द्र जोशी); 'परख', 'सुनीता' (जैनेन्द्र); 'विदा' (प्रतापनारायण श्रीवास्त्व); 'तरंग' (राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह—आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है (तथा "विधवा के पत्र' (चन्द्रशेखर शास्त्री)। [12]

प्रेमचंदयुग के ऐतिहासिक उपन्यासों में 'खवास का ब्याह' (आचार्य चतुरसेन शास्त्री, पृथ्वीराज रासो की एक कथा पर आधारित); 'गढ़कुण्डार' 'विराट की पदिमनी' (वृन्दावनलाल वर्मा); 'गदर', 'सत्याग्रह' (ऋषभचरण जैन); 'चित्रलेखा' (भगवतीचरण वर्मा) इत्यादि की गणना कर सकते हैं। 'चित्रलेखा' युवावर्ग में आज भी उतना ही लोकप्रिय है। इस अर्थ में 'चित्रलेखा' हिन्दी का सदाबहार उपन्यास है।[13]

सन् 1936 और आठ अक्तूबर को प्रातः साढ़े सात बजे हिन्दी साहित्य का यह सूर्य (प्रेमचंद) सदा-सदा के लिए अस्त हो गया। [14] अतः प्रेमचंदकाल की अवधि सन् 1918 से सन् 1936 तक मानी जाती है। प्रमचन्दोत्तरकाल की औपन्यासिक प्रवृत्तियों में वैपुल्य पाया जाता है। सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त प्रस्तुत कालख़ण्ड में हमें मनोवैज्ञानिक उपन्यास, समाजवादी-मार्क्सवादी उपन्यास, आंचलिक उपन्यास, राजनीतिक उपन्यास,

व्यंग्यात्मक उपन्यास, पौराणिक उपन्यास आदि विविध प्रकार के उपन्यास होते है।

अध्ययन की सुविधा हेतु प्रेमचन्दोत्तर काल को पुनः चार ख़ण्डों में विभक्त किया गया है — स्वाधीनता-पूर्व काल (1936-1647), स्वातंत्रयोत्तरकाल (1947-1960), साठोत्तरी उपन्यास (1961-1980) और समकालीन उपन्यास (1980- अद्यावधि)।

स्वाधिनता-पूर्वकाल के प्रमुख उल्लेखनीय उपन्यासों में 'सरकार तुम्हारी आंखों में', 'जीजीजी' (उग्रेजी); 'आत्मदाह' (चतुरसेन शास्त्री); 'चम्पाकली', 'हिज हाइनेस', 'बुर्दाफ़रोश' (ऋषभचरण जैन); 'बयालीस' (प्रतापनारायण श्रीवास्तव); 'चोटी की पकड़' (निराला); 'जूनिया' (गोविन्दवल्लभ पंत); 'नारी' (सियारामशरण गुप्त); झांसी की रानी' (वृन्दावनलाल वर्मा); 'प्रेत और छाया' (इलाचन्द्र जोशी); 'त्यागपत्र', 'कल्याणी' (जैनेन्द्र); शेखर एक जीवनी भाग-1 और 2' (अज्ञेय); टेढ़े मेढ़े रास्ते (भगवतीचरण वर्मा); 'महाकाल' (अमृतलाल नागर); 'दादा कमरेड', पार्टी कामरेड' 'देश्द्रोही' (यशपाल); 'सिंह सेनापति', 'जय यौद्धेय' (महापंडित राहुल सांकृत्यायन); 'विषादमठ' (डॉ· रांगेय राघव); 'गुनाहों का देवता' (धर्मवीर भारती), 'बाणभट्ट आत्मक्था' (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीं) आदि की गणना कर सकते हैं।[15]

पन्द्रह अगस्त सन 1947 हम आजाद हुए। अतः सन 1947 1960 तक के काल-ख़ण्ड को स्वातंत्रयोत्तरकाल कहा गया है। इस कालख़ण्ड के प्रमुख उपन्यासों में 'फ़ागुन के दिन चार', (उग्रजी); 'वैशाली की नगरवधू', 'सोमनाथ', 'वयं रक्षामः', 'सोना और खून' (आचार्य चतुरसेन शास्त्री); 'बेकसी का मजार' (प्रतापनाराण श्रीवास्तव); 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'कुल्ली भाट' (निराला); 'फ़रगेट मी नोट' (गोविन्दवल्लभ पंत); 'अचल मेरा कोई', 'मृगनयनी', 'अहिल्याबाई', 'माधवजी सिंधिया' (वृन्दावन्लाल वर्मा); 'जिप्सी', 'जहाज का पंछी' (इलाचन्द्र जोशी); 'सुखदा', 'जयवर्धन' (जैनेन्द्र); 'रोडे और पत्थर', 'अजय की डायरी' (डॉ· देवराज); 'नदी के द्वीप' (अज्ञेय); 'भूले बिसरे चित्र', 'वह फ़िर नहीं आई' (भगवतीचरण वर्मा); 'बूंद और समुद्र', 'सुहाग के नूपुर', 'ये कोठेवालियां'

(अमृतलाल नागर); 'गिरती दीवारें', 'पत्थर-अल-पत्थर' (अश्कजी); 'सागर लहरें और मनुष्य' (उदयशंकर भट्ट); 'घेरे के बाहर' (द्वारिकाप्रसाद); 'निशिकान्त', 'तट के बंधन' (विष्णु प्रभाकर); 'लोहे के पंख' (हिमांशु श्रीवास्तव); 'मनुष्य के रूप', 'झूठा सच', 'दिव्या', 'अमिता' (यशपाल); 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ', 'दुखमोचन', ('वरुण के बेटे') नागार्जुन); 'मसाल', 'सती मैया का चौरा' (भैरवप्रसाद गुप्त); 'बीज', 'हाथी के दांत' (अमृतराय); 'सूरज का सातवां घोड़ा' (डॉ· धर्मवीर भारती); 'बया का घोंसला और सांप', 'काले फ़ूल का पौधा' (डॉ· लक्ष्मीनारायण लाल); 'उखड़े हुए लोग', 'कुलटा', 'सारा आकाश' (राजेन्द्र यादव); 'मुर्दों का टीला', 'हुजूर', 'सीधा सादा रास्ता', 'कब तक पुकारुं' (डॉ· रांगेय यादव); 'खाली कुर्सी की आत्मा' (लक्ष्मीकान्त वर्मा); 'मैला आंचल', 'परती : परिकथा' (फ़णीश्वरनाथ रेणु); 'दिगम्बरी' (सूर्यकुमार जोशी); 'सोया हुआ जल' (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना); 'दो एकान्त' (नरेश मेहता); 'परन्तु', 'द्वाभा', 'सांचा' (प्रभाकर माचवे); 'उसका बचपन' (कृष्ण बलदेव वैद); 'हौलदार', 'कबूतरखाना' (शैलेश मटियानी); 'रथ के पहिये', 'ब्रह्मपुत्र' (देवेन्द्र सत्यार्थी); 'जंगल के फ़ूल' (राजेन्द्र अवस्थी); 'सूनी घाटी का सूरज' (श्रीलाल शुक्ल); 'काली लड़की' (रजनी पनीकर): 'गहरे पानी पैठ' (अयोध्याप्रसाद गोयलीय) आदि उल्लेखनीय समझे जा सकते हैं।[16] यह ध्यातव्य रहे कि यहां प्रत्येक उपन्यासकार के कतिपय महत्वपूर्ण उपन्यासो का ही उल्लेख किया गया है। यहा जिन नये लेखको का प्रवेश हुआ है उनमें डॉ·देवराज, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णु प्रभाकर, हिमाशु श्रीवास्तव, नागार्जुन, भैरवप्रसाद गुप्त्त, लक्ष्मीनारायण लाल, राजेन्द्र यादव, लक्ष्मीकान्त वर्मा, फ़णीश्वरनाथ रेणु, नरेश महेता, प्रभाकर माचवे, कृष्ण बलदेव वैद, देवेन्द्र सत्यार्थी, राजेन्द्र अवस्थी, श्रीलाल शुक्ल आदि गणमान्य कहे जा सकते हैं।

हिन्दी साहित्य में साठोत्तर साहित्य की सविशेष चर्चा रही है, जैसे साठोत्तरी कविता, साठोत्तरी कहानी, साठोत्तरी उपन्यास आदि-आदि। साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों पर सर्वप्रथम म· स· विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के डॉ· पारूकान्त देसाई ने शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया था, जो बाद में उसी विभाग में

प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हुए थे। उन्होंने अपने प्रबंध में स्पष्ट किया है कि साठोत्तरी उपन्यास साठ के बाद के उपन्यास होंगे। लेकिन साठ के बाद के केवल उन उपन्यासों को साठोत्तरी कहा जायेगा जिनमें साठोत्तरी चेतना, मानसिकता और साठोत्तरी सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों का आकलन होगा। यथा—"इधर की साहित्य-समीक्षा में साठोत्तरी साहित्य की विशेष चर्चा हो रही है, उसका कारण भी यही है कि उपर्युक्त सामाजिक-राजनीतिक-वैश्विक स्थितियों का स्वानुभूत, निरपेक्ष, अरोमानी, यथार्थमूलक आकलन इधर जितना हुआ है या हो रहा है उतना पहले कभी नहीं हुआ। (इस कथन के पूर्व उन्होंने विस्तार से साठोत्तरी स्थितियों का विवेचन किया है।) आधुनिक जीवन की विरूपताओं, विसंगतियों एवं विभीषिकाओं को साठोत्तरी रचनाकारों ने वैयक्तिक स्तर पर भोगा है और उसे कलागत निरपेक्षता एवं निर्ममता के साथ अपने उपन्यासों में अंकित किया है। ये उपन्यास अपने प्रारंभिक रोमानीपन, भावुकता, नैतिकता, उपदेशवादिता आदि दूषणों को छोड़ता हुआ यथार्थ के नये आयामों की सृष्टि में आगे बढ़ रहा है।[17] डॉ. नेमिचन्द्र जैनने इन साठोत्तरी उपन्यासों की विशेषताओं को उदघाटित करते हुए लिखा है — "पिछले दश-पन्द्रह वर्षों में हिन्दी उपन्यास अपनी सार्थकता के लिए नये परिप्रेक्ष्य खोजता रहा है और अब उसमें व्यक्ति के आंतरिक सत्य का बाह्य परिवेश के साथ समंजन, रोमेन्टिक दृष्टि के बजाय जीवन के यथार्थ साक्षात्कार का प्रयास, भावुकता या भावप्रधानता के स्थान पर तीखापन, कलात्मक सयम और निर्ममता आदि विशेषताएं क्रमशः अधिकाधिक दिखने लगी है। अब उपन्यासकार प्रायः यह प्रयत्न करता है कि गहन से गहन अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए भी साधारण जीवन के यथासंभव सहज और दैनन्दिन पक्षो का ही सहारा लें, बल्कि शायद उसे यह अनुभव होता है कि गहनतम सत्य और उसकी अनुभूति साधारण जीवन में ही अधिक संभव है।"[18]

इस कालखण्ड के उपन्यासों के संदर्भ में कमलेश्वर ने एक संगोष्ठी में कहा था-"The Novel, in all these years, has undergone a drastic change, so far as it content is concerned. No more of the escapist romances, now gone are the times when the novelist

went on pouring his adolescent bickering and dreams and tears on the pages of a book and asked the reader to shed an equal amount of teas over the description of his less of dignity, besides the Hindi novelist of today refuses to accept the conclusions pertaining the values, instead his conclusions flow from life itself."[19] अर्थात इधर उपन्यासों में आमूलचूल परिवर्तन आया है। रोमानी पलायनवाद अब नदारद है। वे दिन अब लद गये जब उपन्यासकार अपने बचकाना रोमानीपन और स्वप्नों के द्वारा उपन्यास के पन्नों पर आंसुओं की बाढ़ ला देता था और चाहता था कि पाठक भी उसी प्रकार आंसू बहाएं। बजाय इसके आज का (साठोत्तरी) उपन्यासकार जीवन-मूल्य संबंधी निष्कर्ष को नकारता है। वह चाहता है कि वह स्वयं जीवन से निःसृत हो।

साठोत्तरी उपन्याअसों पर कुछ विशेष कहना पड़ा क्योंकि हमारे आलोच्य उपन्यासों में से एक उपन्यास -- 'राग दरबारी' – साठोत्तरी उपन्यासों की श्रेणी में आता है। 'राग दरबारी' के अतिरिक्त अन्य उल्लेखनीय साठोत्तरी उपन्यासों में 'अमृत और विष' (अमृतलाल नागर), 'शहर में घूमता आईना' (अश्क), 'नदी फ़िर बह चजी' (हिमांशु श्रीवास्तव), यह पथ बंधु था' (नरेश मेहता), 'काला जल' (शानी), 'सूरजमुखी अंधेरे के' (कृष्णा सोबती), 'प्रेम अपवित्र नदी' (डॉ· लक्ष्मी-नारायण लाल), 'टेराकोटा' (लक्ष्मीकान्त वर्मा), 'अनदेखे अनजान पुल' (राजेन्द्र यादव), 'अपने अपने अजनबी' (अज्ञेय), 'इमरतिया' (नागार्जुन), 'मेरी तेरी उसकी बात' (यशपाल), 'अजग अलग वैतरणी' (डॉ· शिवप्रसाद सिंह), 'आधा गांव' (डॉ· राही मासूम रजा), 'जल टूटता हुआ' (डॉ· राम्दरश मिश्र), धरती धन न अपना' (जगदीशचन्द्र), 'तमस' (भीष्म साहनी), 'एक पंखुडी की तेज धार' (शमशेरसिंह नरूला), 'मछली मरी हुई' (राजकमल ख़ौधरी), 'बैसाख़ियों वाली इमारत' (रमेश बक्षी), 'पचपन ख़ंभे लाल दीवारें', 'रुकोगी नहीं राधिका?' (उषा प्रियवंदा); 'तीसरा आदमी', 'डाकबंगला' (कमलेश्वर); 'अंधेरे बन्द कमरे' (मोहन राकेश), 'वे दिन' (निर्मल वर्मा), 'आपका बण्टी' (मन्नू भंडारी), 'एक चूहे की मौत' (बदी उज्जमां) आदि की गणना कर सकते हैं। [20]

सन 1980 से सजीव कृत 'रह गई दिशाएं इसी पार' (सन 2010) [21] तक के उपन्यासों को हम 'समकालिन उपन्यास' कह सकते हैं। 'समकालीन' शब्द का अर्थघटन दो तरह से किया जाता है—एककालिक, किसी काल-विशेष में हुए दो व्यक्तियों को समकालीन कहा जाता है, जैसे अकबर और महाराणा प्रताप समकालीन थे। समकालीन का दूसरा अर्थ 'समसामयिक' (Contemporary) होता है। वर्तमान संदर्भ में पिछले पचीस-तीस साल के साहित्य को हम समकालीन साहित्य की संज्ञा दे सकते हैं। किन्तु जो बात साठोत्तरी उपन्यास के संदर्भ में कही गई है वह यहां भी लागू होगी। केवल उन उपन्यासों को समकालीन कहा जायेगा जिनमें समकालीन चेतना और मानसिकता होगी। बिना इसके इधर का लिखा गया ताजातरीन उपन्यास भी समकालीन की संज्ञा में नहीं आ सकता। हमारे आलोच्य उपन्यासों में 'मुझे चांद चाहिए' (सन 1993) और 'काशी का अस्सी' (सन 2002) 'समकालीन उपन्यासों' की कोटि में आते हैं। इनके अतिरिक्त प्रमुख समकालीन उपन्यासों में 'बिना दरवाजे का घर' (डॉ॰ रामदरश मिश्र), 'शेष यात्रा' (उषा प्रियंवदा), 'रात का रिपोर्टर' (निर्मल वर्मा), मैयादास की माड़ी' (भीष्म साहनी), 'शैलूष' (डॉ॰ शिवप्रसाद सिंह), 'सोना बाटी' (डॉ॰ विवेकीराय), 'दिलोदानिश' (कृष्णा सोबती), 'महाभोज' (मन्नू भंडारी), 'जाग मछंदर गोरख़ आया' (विश्वम्भरनाथ), 'कर्करेंख़ा' (शशिप्रभा शास्त्री), 'हुजूर दरबार' (गोविन्द मिश्र), 'अकेला पलाश' (मेहरून्निसा परवेज), 'सांड' (हृदयेश), 'नर्क कुंड मे बास' (जगदीशचन्द्र), 'अपने अपने राम' (भगवानसिंह), 'सूख़ा बरगद' (मंजूर एहतेशाम), 'सात आसमान' (असगर वजाहत), 'पटरंगपुराण' (मृणाल पांडे), 'यामिनी कथा' (सूर्यबाला सिंह), 'कुरु कुरु स्वाहा' (मनोहरश्याम जोशी), 'धार' (संजीव), 'लेकिन दरवाजा' (पंकज बिस्ट), 'शाल्मली (नासिरा शर्मा), 'छिन्नमस्ता' (प्रभा ख़ेतान), 'इदन्नमम' (मैत्रेयी पुष्पा), 'आदमख़ेर' (श्रवण्कुमार गोस्वामी);[22] 'शहर में कर्फ़्यू' (वुभूतिनारायण राय), 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' (अब्दुल बिस्मिल्लाह), 'नीले घोड़े का स्वार' (राजेन्द्रमोहन भटनागर), 'अपना अपना आकाश' (देवेश ठाकुर); [23] 'श्यामबिहारी), 'आखिरी सलाम' (दूधनाथ सिंह), 'अक्षयवट' (नासिरा शर्मा), 'कैसी आग लगाई' (असगर वज़ाहत); 'काला

पहाड़' (भगवानदास मोरवाल), 'ईसुरी फ़ाग' (मैत्रेयी पुष्पा), 'दर्दपुर' (क्षमा कौल), 'बाजत अनहद ढोल' (मधुकर सिंह), 'पिछले पन्ने की औरतें' (सुश्री शरदसिंह), 'आख़िरी सलाम' (मधुकांकरिया), 'सावधान, नीचे आग है' (संजीव), 'अपनी सलीबें' (नमिता सिंह), 'शहर चुप है' (मुशरर्फ़ आलम जौकी), 'मीरा याज्ञिक की डायरी' (बिन्दु भट्ट); [24] 'शुद्धिपत्र' (नीलाक्षी सिंह), 'भया कबीर उदास' (उषा प्रियंवदा), 'दस बरस का भंवर' (रवीन्द्र वर्मा), 'अगिनपाथर' (व्यास मिश्र), 'इक आग का दरिया है' (गिरिराज किशोर), 'पहर ढलते' (मंजूर एहतेशाम), 'जैनी मेहरबान सिंह' (कृष्णा सोबती), 'अवगुन चित्त न धरो' (किरण सूद); [25] 'रेहन पर रग्घू' (काशीनाथ सिंह), 'ख़ंभो पर टिकी खुशबू' (नरेन्द्र नागदेव), 'एक ब्रेक के बाद' (अलका सरावगी), 'अपवित्र आख़्यान' (अब्दुल बिस्मिल्लाह), 'जीरो रोड़' (नासिरा शर्मा), 'सेज पर संस्कृत' (मधु कांकरिया), 'दस द्वारे का पिंजरा' (अनामिका), 'काहे रे नलिनी' (उषा यादव); [26] 'दुक्खम सुक्खम' (ममता कालिया), 'प्रेम की भूतकथा' (विभूतिनारायण राय), 'बरख़ा रचाई' (असगर वज़ाहत), 'परछाई नाच' (प्रियवंद), 'ख़ानाबदोश ख़्वहिशें' (सुश्री जयंती); [27] 'देश निकाला' (धीरेन्द्र अस्थाना), 'अपनी धरती अपना आकाश' (सुश्री विजय शर्मा), 'तीसरा रास्ता' (रामनाथ शिवेन्द्र), 'रह गई दिशाएं' (संजीव) 'छुट्टी के दिन का कोरस' (प्रियंवद), 'धूणी तपे तीर' (हरिराम मीणा) [28] आदि की गणना कर सकते हैं। क्षमा करें, यहां केवल हमने उपन्यासों का नामोल्लेख़-भर किया है, क्योकि हमारा मकसद केवल सन 2010 तक के उपन्यासों को रेखांकित करने का ही था।

भाषा की परिभाषा :

'भाषा' भाव एवं विचारों की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है । कई बार भाव एव विचारों की अभिव्यक्ति संकेतों से भी होती है, जैसे किसीको चूप कराने के लिए मुंह पर ऊंगली रख़ना, गरदन ऊपर-नीचे या दाएं-बाएं हिलाना, परंतु इनकी गणना 'भाषा' के अंतर्गत नहीं होगी। पशु-पक्षियों की, यहां तक कि जंतुओं की भी भाषा होती है। वे भी विभिन्न ध्वनियों द्वारा कुछ-न-कुछ उच्चारित

करते हैं। परतु उसे भी भाषा नहीं कहा जायेगा। संक्षेप में हम जिस भाषा की बात करते हैं वह मनुष्यों द्वारा बोली जाती है।

डॉ. वामन शिवराम आप्टे ने अपने संस्कृत-हिन्दी कोश में भाषाम के छः अर्थ बताए हैं—1 वक्तृता, बात; 2 बोली, जबान; सामान्य 3 सामान्य या देहाती बोली; 4 परिभाषा, वर्णन, यथा—'स्थितप्रस्य का भाषा (गीता, 2-54); 5 सरस्वती का विशेषण, वाणी की देवी; 6 अभियोग की चार अवस्थाओ में से पहेली अवस्था – शिकायत, आरोप, दोषारोपण। [29] उपर्युक्त में से प्रथम तीन अर्थ हम जिस भाषा की बात करते हैं उससे सम्बद्ध हैं।

डॉ· हरदेव बाहरी ने अपने 'हिन्दी=अंग्रेजी शब्दकोश' में भाषा को अंग्रेजी शब्द 'Language' और 'Speech' के समानार्थी माना है।[30] यहां पर डॉ· बाहरी ने 'भाषा' से जुडे हुए और भी कई शब्द और उनके अंग्रेजी अर्थ दिए हैं, जो भाषा को समझने के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, जैसे—भाषा-कौशल = Language Skill, भाषा क्षेत्र = Speech Area, भाषा–दर्शन = Philosophy of Language, भाषाबद्ध = Written, भाषा-बोध = Lingnistic Apprhension, भाषा-मीमांसा = Philosophy of Language, भाषा-लाघव = Linguistic Economy, भाषा-विज्ञान = Linguistic, भाषा-विज्ञानी = Linguistician, भाषाशास्त्र = Philology, भाषाशास्त्री = Philologist, भाषा-संस्कार = Eugenics of Language, भाषायी अध्ययन = Linguistic Study, भाषायी रूप = Linguistic form, भाषावार = Linguistically, भाषिक = Linguistic, भाषिका = Dialect, भाषी = Speaker, हिन्दी भाषी = Hindi Speaking. [31] इन शब्दों से भाषा-विषयक कुछ समझदारी स्पष्ट हो सकती है।

डॉ· भोलानाथ तिवारी ने 'हिन्दी पर्यायवाची कोश' में भाषा के तीन प्रकार के अर्थ बताएं हैं –1. ज़बान, वाक, वाणी 2. उपबोली, उपभाषा, विभाषा; 3. हिन्दी। 32 इसी कोश में अन्यत्र उन्होंने 'गिरा' शब्द का अर्थ सरस्वती दिया है, और उनके अनेक पर्यायवाची शब्दों में 'गिरा' और भारती भी दिया है। [33] इस प्रकार प्रथम प्रकार के जो अर्थ उन्होंने दिए गए है उनमें ज़बान, वाक, वाणी के उपरांत दो और शब्दों की वृद्धि होती है--- 'गिरा' और भारती दिया है। 33 इस

प्रकार प्रथम प्रकार के जो अर्थ उन्होंने दिए हैं उनमें ज़बान, वाक, वाणी के उपरांत दो और शब्दों की वृद्धि होती है--- 'गिरा' और 'भारती'। डॉ॰ तिवारी ने जो दूसरे प्रकार के अर्थ दिए गए हैं वे पहले ब्रज, अवधी इत्यादि भाषाओं के लिए प्रयुक्त होते थे। 'संस्कृत' देववाणी थी, गिरा थी। दूसरी भाषाएं भाषा या भाख़ा। भाषा-कवि होने का केशव को बड़ा मलाल भी था। यथा "उपज्यो तेही कुल मन्दमति शठ कवि केशवदास/ रामचन्द्र की चन्द्रिका भाषा करी प्रकाश्।" [34] परंतु अब साहित्यिक परिनिष्ठित हिन्दी के लिए 'भाषा' शब्द का ही प्रयोग होता है, जैसे अन्य भारतीय भाषाओं के लिए, जैसे गुजराती, मराठी, पंजाबी, बंगला, तमिल, तेलुगु, मलयालम आदि आदि।

डॉ. भोलानाथ तिवारी ने अपने 'भाषाविज्ञान' नामक ग्रन्थ में 'भाषा' का सम्यक विवेचन करने के उपरांत उसे इस प्रकार परिभाषित किया है—"भाषा मानव-उच्चारणावयवों से उच्चरित यादृच्छिक ध्वनि-प्रतिकों की वह संरचनात्मक व्यवस्था है, जिसके द्वारा समाज-विशेष के लोग आपस में विचार-विनिमय करते हैं, लेखक, कवि या वक्त्ता रूप में अपने अनुभवों एवं भावों आदि को व्यक्त्त करते हैं तथा अपने वैयक्त्तिक और सामाजिक व्यक्तित्व, विशिष्टता तथा अस्मिता (Identity) के सम्बन्ध में जाने-अनजाने जानकारी देते हैं।" [35]

उपर्युक्त्त परिभाषा में निम्नलिखित मुद्दों पर जोर दिया गया है - (1) भाषा मानव-उच्चारण-अवयवो से ही उच्चरित होती है। ये उच्चारण अवयव मुह, जबड़े, तालु, कंठ इत्यादि में स्थित होते हैं। ध्वनि के उच्चारण में जिहवा या जबान का प्रयोग सबसे ज्यादा होता है, कदाचित इसीलिए 'भाषा' को 'जबान' कहा जाता है। (2) भाषा में यादृच्छिक (Arbitrary) ध्वनि-प्रतिक होते हैं। इसका आशय यह है कि किसी ध्वनि-समविष्ट या शब्द का जो अर्थ है, वह यों ही बिना किसी तर्क, नियम या कारण के मान लिया जाता है। इसीलिए विभिन्न भाषाओं में एक ही ध्वनि-समविष्ट के भिन्न-भिन्न अर्थ पाए जाते हैं, जैसे 'फूल' का अर्थ पुष्प होगा, परंतु अंग्रेजी में उसका अर्थ मूर्ख (fool) होगा। 'श्वान' का अर्थ हिन्दी तथा संस्कृत में 'कुत्ता' होगा, किन्तु अंग्रेजी में 'Swan' का अर्थ होगा हंस। यदि यह सम्बन्ध सहजात तर्कपूर्ण, स्वाभाविक या नियमित होता तो सभी भाषाओं में शब्दों के अर्थ

में साम्य मिलता। (3) भाषा एक व्यवस्था (System) है। यह व्यवस्था ध्वनि, शब्द-रचना और वाक्य-रचना आदि सभी स्तरों पर होती है। उदाहरण के लिए हिन्दी में 'ड़' और 'ढ़' शब्द प्रारंभ में नहीं आते। यह ध्वनि-स्तर पर की व्यवस्था हुई। हिन्दी वाक्य-रचना में कर्ता+कर्म+क्रिया का क्रम होता है, जैसे नीरव फ़ल खाता है; परंतु अंग्रेजी वाक्य रचना में कर्ता+क्रिया+कर्म का क्रम होता है, जैसे 'नीरव इज़ इटिंग द फ्रूट'। इसे वाक्य-स्तर की व्यवस्था कहते हैं। (4) भाषा विचार-विनिमय का साधन है। उससे वक्ता के विचार श्रोता तक पहुंचते हैं। (5) भाषा का प्रयोग किसी समाज-विशेष में होता है और उसीमें वह बोली और समझी जाती है। (6) लेख़क या कवि उस भाषा-विशेष में किसी समाज-विशेष के लिए लिखते हैं।

ऊपर जिस भाषा को परिभाषित किया गया है, उसकी अपनी कुछ विशेषताएं हैं जो इस प्रकार हैं—(1) भाषा पैतृक संपत्ति नहीं है, कुछ लोगों का मानना है कि भाषा पैतृक संपत्ति है परंतु ऐसा नहीं है। यदि किसी भारतीय बच्चे को एक-दो वर्ष की अवस्था से किसी अन्य देश में पाला जाय जिसकी भाषा दूसरी है, तो वह शिशु वही भाषा बोलेगा। (2) भाषा अर्जित सम्पत्ति है--- भाषा को अर्जित किया जाता है। उसे सीख़ा जाता है। प्रारंभिक अवस्था में शिशु भाषा अपने मां-बाप, भाई-बहन, रिश्तेदार, सम्बन्धी आदि से सिखता है। बड़ा होने पर वह शिक्षा के द्वारा उसे अर्जित करता है। (3) भाषा आद्यन्त सामाजिक वस्तु है। भाषा का जन्म समाज से हुआ है। एक समाज-विशेष में वह बोली, समझी और लिखी जाती है। ऊपर हम बता चुके हैं कि भाषा अर्जित सम्पत्ति है। तो इसका अर्जन व्यक्ति कहां से करता है। उसका एक मात्र उत्तर है—'समाज से'। (4) भाषा परंपरा है, व्यक्ति उसका अर्जन कर सकता है, उसे उत्पन्न नहीं कर सकता। (सांकेतिक या गुप्त आदि भाषाओं की बात यहां नहीं की जा रही । (किसी भी भाषा के पीछे सैंकड़ों वर्षों की परंपरा होती है। भाषा का विकास एक दिन नहीं हो गया है। उसकी शब्द-संपदा या उसकी संपन्नता एक दिन की या कुछ वर्षों की नहीं है। उसमें हजारों वर्षोकी सामाजिक-साधना है। (5) भाषा का अर्जन अनुकरण द्वारा होता है शिशु भाषा अनुकरण से सिखता है। मां शिशु के सामने कहती है—'दुधू

और वह बोलने लगता है दुधू। (6) भाषा परिवर्तनशील है- भाषा का निरंतर विकास होता रहता है, अत उसमें निरंतर परिवर्तन होता रहता है। उसमें नये नये शब्द भी आते रह्ते हैं। जब एक भाषा का संपर्क दूसरी भाषा से होता है तो दोनों भाषाओं में पारस्परिक आदान-प्रदान होता है। जब अरबी, फ़ारसी, उर्दू आदि भाषाएं आयीं तो हिन्दी में उन भाषाओं के हजारों शब्द हिन्दी में आकर मिल गये है। इस संदर्भ में डॉ. पारुकान्त देसाई का यह कथन विचारणीय रहेगा—"भाषा तो एक निरंतर बनती हुई प्रक्रिया है। हमारी भाषा में न जाने कितनी भाषाओं के शब्द आये हैं। भाषा प्रयोग से विकसित होती है। हमारे यहां आर्य, शक, कुषाण, हुण, मुसलमान, मुगल, पुर्तगाली, अंग्रेज वगैरह अनेक जातियों के लोग आये और साथ ही उनके कुछ शब्द हमारी भाषा में धुल-मिले गये, जैसे-कमरा, तोप (तुर्की), आदमी, औरत (अरबी), कमीना(फ़ारसी), कमीज, मालूम, गरीब (अरबी); गरमी, उस्तरा (फ़ारसी); पादरी (पुर्तगाली), रेल, कप, कूपन, स्कूल, कालेज, टेबल आदि (अंग्रेजी)। ये शब्द हमारी भाषा में ऐसे घुल-मिल गये हैं कि अंग्रेजी भाषा में 60 प्रतिशत शब्द अन्य भाषाओं के हैं, तथापि अंग्रेजी को कोई खिचड़ी-भाषा नहीं कहता। अब 'घेराओ', 'बेसणा' तथा 'बन्दोबस्त' जैसे शब्दों को भी अंग्रेजी में स्थान मिलने लगा है। कहने का तात्पर्य यह कि हिंदी में भी ऐसे शब्दों को स्थान देना चाहिए। तभी हिन्दी की शब्द-संपदा बढ़ेगी, हिन्दी समृद्ध होगी। अंग्रेजों ने हमारे यहां 250 साल शासन किया, अतः अंग्रेजी के भी अनेक शब्द हमारी भाषा में आये हैं। ऐसे शब्दों को हमें सहज स्वीकार कर लेना चाहिए। कुछ शब्दोंने तो हमारी भाषा के सस्कार भी ग्रहण कर लिए हैं, जैसे-लालटेन (लेंटर्न), रपट (रिपोर्ट), गुस्टन (गुड्ज-ट्रेन), कोट-पतलून, फ़ौण्टन पेन, लंबरदार, इजनेर,डाक्टरसाब, अंडरवेर आदि।" [36] कहने का अभिप्राय यह कि भाषा परिवर्तित भी होती है और विकसित भी होती है। इनके अतिरिक्त भी भाषा की अनेक विशेषताएं हैं, जैसे -- (7) भाषा का कोई अंतिम स्वरूप नहीं है। (8) प्रत्येक भाषा की एक ऐतिहासिक एवं भौगोलिक सीमा होती है, (9) प्रत्येक भाषा की अपनी संरचना अलग होती है, (10) भाषा प्रायः कठिनता से सरलता की ओर जाती है, (11) भाषा स्थूलता से सूक्ष्मता और अप्रौढ़ता से प्रौढ़ता की ओर

अग्रसरित होती है, (12) भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है (उदा· 'रामः गच्छति' (संस्कृत) से 'राम जाता है' (हिन्दी), (13) हर भाषा का स्पष्ट या अस्प्ष्ट एक मानक रूप होता है। [37]

कई बार कुछ घटनाएं वा परिस्थितियां नवीन शब्दों का निर्माण करती हैं। वेनेझुएला की एक युवती ने अपने पति के यौन-अत्याचारों से मुक्त्ति पाने के लिए जब वह सो रहा था तब उसका लिंग काट दिया था। उस युवती की 'सरनेम' बोबिट थी, अतः इस घटना से अंग्रेजी में 'लिंगच्छेद' के लिए शब्द आया- 'बोबिटिंग'। 'बायकोट' नामक एक अंग्रेज कारिन्दा बहुत ही क्रूर एवं जुल्मी था। गांव के लोगों ने उसे सबक सिखाने के लिए उसके तमाम कामों का बहिष्कार किया, अर्थात नाई ने बाल काटने से इन्कार कर दिया, धोबी ने कपड़े धोने, खानसामा ने रसोई बनाने से इन्कार कर दिया। फ़लतः वह सीधा हो गया अंग्रेजी का 'बायकोट' शब्द इस घटना के बाद आया है।[38] 'सैण्डविच' इंग्लैंड की एक स्टेट का नाम है। यहां का सामन्त जान मांटेगू दिन-रात जुआ खानसामा को आज्ञा दी थी कि वह दो स्लाइसों के बीच 'बीफ़' रखकर ले आवे। खाने के व्यंजन के रूप में 'सेण्डविच' शब्द यहां से आया है। [39] भारतीय राजनीति में जब उठा-पटक की प्रक्रिया शुरू हुई तो उसके कारण 'आयाराम' और 'गयाराम' जैसे शब्द भाषा में शामिल हुए।

यहां हमारा उद्देश्य भाषा की विस्तृत विवेचना करना नहीं है। भाषा-विषयक इतनी चर्चा आवश्यक थी क्योंकि हमारे शोध-प्रबंध का विषय ही भाषा से जुड़ा हुआ है। हिन्दी के तीन उपन्यासों की भाषा की पड़ताल करने का हमारा उपक्रम है, अतः उससे सम्बद्ध चर्चा पर हमारा ध्यान केन्द्रित रहेगा।

उपन्यास की भाषा :

उपन्यास-विषयक परिभाषाओं में इस विधा के 'गद्य' में होने का विधान कई स्थानों पर मिलता है। 'न्यू इंग्लिश डिक्शनरी' में जो उपन्यास की परिभाषा दी गई है उसके प्रथम वाक्य में ही 'प्रोज' शब्द आया है, यथा- 'ए नोवेल इज़ ए फ़िक्शनल प्रोज आफ़ कन्सिडरेबल लेन्थ·' [40] आगे और भी बातें बताई हुई हैं किन्तु हमारा अभिप्राय प्रथम वाक्य में ही स्पष्ट हो जाता है। इस बात को आगे बढ़ाते हुए राल्फ़ फ़ोक्स महोदय ने कहा है—'ए नोवेल इज़ नोट मियर्ली

फ़िक्शनल प्रोज, इट इज़ ए प्रोज और मेन्स लाईफ़· [41] अर्थात उपन्यास प्रकनात्मक गद्य मात्र नहीं है, वह मानव-जीवन का गद्य है। 'मानव-जीवन का गद्य' कहने के पीछे उनका आशय 'बोली जानेवाली भाषा' --- 'स्पोकन लैंग्वेज़' से है। उपन्यास में कथा होती है और अतएव उसमें पात्र होते हैं। राल्फ़ फ़ोक्स शायद यह कहना चाहते हैं कि उपन्यासकार अपने उपन्यासों के पात्रालेखन में उन-उन पात्रों की भाषा का प्रयोग करता है। शायद इसिलिए उन्होंने अपने आलोचना औपन्यासिक-विष्यक ग्रंथ का नाम 'नोवेल एण्ड द पिपल' रखा है। इस संदर्भ में प्रेमचंद, मटियानी, रेणु आदि की औपन्यासिक भाषा को देखना चाहिए। उपन्यासकार जितना ही ज्यादा अपने पात्रों में रममाण होगा उसकी भाषा उतनी ही ज्यादा जीवन्त होगी। इसिलिए शायद प्रेमचंदजी कहते थे कि मैं अपने पात्र आसपास के जीवन से उठाता हूं, आले पर रख़ी हुई पुस्तकों से नहीं। अतः यह तो निश्चित हुआ कि उपन्यास में अधिकांशतः पात्रों की भाषा आती है, लोगों की भाषा आती है, और लोगों की भाषा हमेशा गद्य में ही रहती है। वाङग्मय में हम देखते हैं कि प्रायः सभी भाषाओं में पद्य पहले आया है और गद्य बाद में, किन्तु व्यवहार जगत की बात करें तो लोग तो सदैव 'गद्य' की भाषा का ही प्रयोग करते रहे हैं। अतः कहा जा सकता है कि गद्य व्ययहार की भाषा है। पहले निर्दिष्ट किया गया है कि अंग्रेजी में भी 'नोवेल' गद्य के विकास के उपरान्त ही आविर्भूत हुआ है। एडीसन, स्टील आदि निबंधकार तथा पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के कारण जब अंग्रेजी गद्य वर्णन, विश्लेषण, विवेचन एवं विभिन्न भावों व स्थितियों के चित्रण के लिए सक्षम हुआ तभी 'नोवेल' जैसा साहित्य प्रकार (जेनर) अस्तित्व में आया है। [42] और हमारे यहां भी नवजागरण के उपरान्त जब गद्य विकसित हुआ तभी आया जब गद्य विकसित एवं सक्षम हुआ। काव्य- शास्त्र या साहित्य के ग्रन्थों में जहां काव्य या साहित्य का वर्गीकरण किया गया है, वहां 'उपन्यास' का उल्लेख़ गद्य की विधाओं में ही हुआ है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि उपन्यास की भाषा गद्य-भाषा है।

<u>हिन्दी गद्य का विकास:</u>

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि खड़ी बोली हिन्दी गद्य का विकास आधुनिक काल में ही हुआ है। इसका अर्थ यह नहीं कि प्राचीन या मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में गद्य नहीं था। गद्य था परन्तु उसकी रचनाएं इनी-गिनी थीं। आदिकाल में रोड़ा कृत 'राउलवेल' चम्पू काव्य है। 'चम्पू' में गद्य-पद्य का मिश्रण होता है। इसके अतिरिक्त दामोदर शर्मा कृत 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' तथा ज्योतिरीश्वर ठाकुर कृत 'वर्ण-रत्नाकार' नामक गद्य-रचनाएं उपलब्ध होती है।[43] उस्के उपरान्त भक्तिकाल में ब्रजभाषा-गद्य, ख़ड़िबोली गद्य तथा राजस्थानी गद्य की रचनाएं मिलती हैं। ब्रजभाषा गद्य में वल्ल्भाचार्य कृत 'चौरासी अपराध', विट्ठलनाथ कृत 'श्रृंगाररस-मंड्न', 'ध्रुवदास कृत' सिद्धान्तविचार, नाभादास कृत 'अष्टयाम', विट्ठनाथजी और गोकुल्नाथजी के शिष्यों द्वारा लिखित 'वचनामृत' आदि गद्य-रचनाएं उपलब्ध होती हैं।[44] ख़डीबोली गद्य में 'कुतुबशत'। 'भोगलू पुराण' (भूगोलपुराण) तथा 'पोथी सचुषंड' (नानक की जीवनी और व्याख्या) आदि गद्य-रचनाएं उल्लेख़नीय कही जा सकती हैं।[45] दक्खिनी गद्य में गेसूदराज कृत 'मेराजुल आशिकीन', 'हिदायतनामा' 'शिकारनामा';बुरहानुद्दीन जानम कृत' कल्मितुल हकायक', मुल्ला वजही विरचित 'सबरस' आदि उल्लेख़नीय गद्य रचनाएं हैं।[46] भक्तिकालीन राजस्थानी गद्य रचनाओं में 'बालशिक्षाटिका' (संस्कृत व्याकरण की टीका), 'जगतसुंदरी प्रयोगशाला' (पद्य-गद्य मय वैदक रचना), 'नवकारा व्याख़्यन टीका', 'अतिचार', 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र', 'धनपाल कथा', 'अचलदास खीची री वचनिका', 'अंजनासुंदरी की कथा', 'कालिकाचार्य कथा', 'वस्तुपाल तेजपाल रास', 'कोकशास्त्र बालावबोध' (कामशास्त्र विषयक ग्रन्थ), 'गणितपंचविंशतिका बालावबोध' तथा उक्तिसंग्रह भाष्य आदि गद्य-रचनाएं गणना योग्य हैं।[47] उसके उपरांत रीतिकाल में उक्त चार प्रकार की गद्य-रचनाओं के अलावा भोजपुरी और अवधी में भी कुछ गद्य-रचनाएं उपलब्ध होती हैं। रीतिकालीन ब्रजभाषा-गद्य में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता', 'चौरासी बैठक चरित्र', 'भावसिन्धु तथा 'नित्यसेवा प्रकार' जैसी गद्य-रचनाएं उपलब्ध होती हैं। उल्लेख़नीय कही जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त काव्यशास्त्रीय और दार्शनिक रचनाओं में पद्य के बीच टिप्पणीपरक गद्य उपलब्ध

होता है। तुलसी,बिहारी, केशव आदि पर जो टीकांए प्राप्त होती हैं उनमें भी ब्रजभाषा गद्य मिलता है। रीतिकालिन ख़ड़ीबोली गद्य टीकांएं प्राप्त होती हैं उनमें भी ब्रजभाषा गद्य मिलता है। रीतिकालीन ख़ड़ीबोली गद्य की रचनाओं में 'एकादशी महिमा', 'सीधा रास्ता' (इस्लाम-विषयक रचना), 'फ़र्सनामा', 'सकुनावली', 'दवावैत','सुरासर निर्णय', 'मोक्षमार्गप्रकाश', 'सिंहासन बत्तीसी', 'मल्लिनाथ चरित्र वचनिका' 'भाषायोगवासिष्ठ', 'हितोपदेश वचनिका', 'भाषा उपनिषद'नासि-केतोपाख्यन' (सदल मिश्र), 'प्रेमसागर' (लल्लूलाल गुजराती), 'आनंदरधुनंदन नाट्क' (रीवां नरेश महारज विश्वनाथ सिंह) आदि की गणना कर सकते हैं। दक्खिनी गद्य में 'रिसाले गद्य में 'रिसाले वजूदिया' (मोहम्म्द कादरी), 'रिसाले तसव्वुफ़' (अब्दुल हमीद), 'तूतिनामा', 'हेदरनामा' तथा 'गुलदस्ताए-हिन्द' जैसी रचनाएं उपलब्ध होती हैं। इस काल-खण्ड के राजस्थानी गद्य में 'रतन रतना हमीर री वात', 'सिद्धराज जयसिंह दे री वात', 'ढोला मारवाणी री वात', 'सिद्धराज जयसिंह दे री वात', 'ढोला मारवाणी री वात', 'गोराबादल री वात, 'राजा भोज खापरा चोर री वात' 'बीरबल री वात', 'दलपति विलास', 'सीसोदियां री वंसावली', 'कछवाहां री वंसावली' आदि रचनाएं गणमान्य कही जा सकती हैं। इस काल-खण्ड में जैसा कि ऊपर कहा गया है भोजपुरी और अवधी में भी कुछ गद्य-रचनाएं उपलब्ध होती हैं। इनमे भानुमिश्र कृत 'रसविनोद', 'उड्डील' (नित्यनाथ), रामचरणदास कृत 'मानस टीका', महाराज विश्वनाथ सिंह कृत 'कबीर बीजक टीका' और 'परमधर्म निर्णय' आदि उल्लेख़्य हैं। [48]

<u>आधुनिक काल में हिन्दी गद्य का विकास</u>:

गद्य का आविर्भाव आधुनिक काल की एक प्रमुख घटना है। शायद इसिलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल को 'गद्ययुग' कहा है। [49] वैसे जेसा कि ऊपर बताया गया है आदिकाल, भक्तिकाल, तथा रीतिकाल में भी कुछ गद्य-रचनाएं मिलती है, परंतु उनमें पद्य के संस्कार है, पद्य का प्रभाव है। उसमें ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि का प्रभाव है। एक- दो उदाहरणों से बात स्पष्ट हो जायेगी-

(1) "जोइ जोइ प्यारो करे सोइ सोइ मोहि भावै—इति प्यारो उचित अनुचित करे जो सो सब भवे उचित अनुचित यह क्यों लिखो, कोउ संदेह करे ताको उत्तर करिवे में दोउ इहे उचित के अन उचित उचित तो प्यार विना हू करे--"50

(2) एक ब्रहमन था, नाम उसका अस्पत था, अकन्बोत्री था, अकन बोतरसों धुअंकन के जो आंखों में पर्या था तिसते आंसू जो चलते थे दाहिनी जो अख़ ते आंसू चलते थे तिससे खोरा होत फ़या (भया) वा वें अख़ ते जे आंसू चल्ते थे तिससे खोरी होत फ़ई (भई) पुत्र जो इस ब्रहमन का था उसका नाम सालूतर था तन पुत्र अपने नोखियां एक पोथी खोरियां की करो जिसते ओकन अर रोक अर इलाज जानिया जाय तिसने ओ पोथी करी, अपन मांहे नाम रखिया।"

अभिप्राय यह कि यह गद्य उतना संपन्न नहीं था कि उसमें विभिन्न प्रकार के काव्यरूपों का सृजन हो सके। वस्तुतः ख़ड़ी बोली गद्य का वास्तविक प्रारंभ तो सन 1800 में कलकत्ता के कोर्ट विलियम कालेज की स्थापना से होता है। उसमें जोन गिल क्राइस्ट हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त होते हैं। विश्वविद्यालयीन शिक्षा का प्रारंभ भी यहीं से होता है। जोन गिल क्राइस्ट महोदय की अध्यक्षता में कुछ अध्यापकों की नियुक्तियां होती है जिनको हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकों को तैयार करने का कार्य सौंपा जाता है। इनके नाम है—लल्लूलाल गुजराती और पं· सदल मिश्र। लल्लूलालजी ने सन 1805 में भागवत के दशम स्कन्ध के आधार पर 'प्रेमसागर' नामक गद्य-रचना लिखी तो सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना उसी वर्ष की।

लगभग उसी समय फ़ोर्ट विलियम कालेज से अलग दो ऐसे महानुभाव हैं जो ख़ड़ीबोली हिन्दी गद्य को आगे बढ़ाने की प्रवृति में व्यस्त थे। उनके नाम हैं—मुंशी सदासुखलाल तथा इंशाअल्लाख़ां। मुंशी सदासुखलाल ने श्रीमद भागवत का हिन्दी अनुवाद 'सुखसागर' के रूप में प्रस्तुत किया तो इंशा अल्लाखां ने सन 1803 के आसपास 'रानी केतकी कहानी' नामक गद्य-रचना का प्रणयन किया। इन चार लेखकों को हम खड़ी बोली हिन्दी गद्य-भवन के चार मुख्य स्तम्भ कह सकते है। उसमें कुछ उर्दू का पुट भी मिलता है। पं. सदल मिश्र की भाषा कुछ

पूरबीपन लिए हुए है। वह कुछ अधिक व्यवहारिक एवं सुथरी है। मुंशी सदासुखलालजी के गद्य में संस्कृतनिष्ठता तथा पंडिताउपन मिलता है तो इंशा अल्लाखां का गद्य उर्दू भाषा से प्रभावित है। हिन्दी की ये दो शैलियां तभी से चलीं आ रहीं है और कमोबेश रूप में आज भी चल रही है। ये दो शैलियां है-संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दावली युक्त भाषा और उर्दू अरबी-फ़ारसी शब्दों से लैस आमफ़हम हिन्दूस्तानी भाषा।

इन चार लेखकों ने आधुनिक हिन्दी गद्य का प्रवर्तन तो कर दिया किन्तु उसकी अखण्ड-अजस्र धारा तो प्रवाहित हुई सन 1857 के बाद ही । हिन्दी गद्य के विकास में ईसाई मिशनरियों के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। उन्होंने अपने धर्म-प्रचार के लिए न केवल हिन्दी भाषा का अध्ययन किया अपितु उसमें बाईबल आदि धर्म-पुस्तकों का अनुवाद भी किया। उसकी प्रतिक्रिया के रूप में बंगाल में ब्रह्मोसमाज की स्थापना राजा राममोहन राय ने की। राजा राममोहन राय ने हिन्दी के महत्व को समझते हुए अपना प्रचार-कार्य उसी भाषा में किया, फ़लत: हिन्दी में कुछ ग्रन्थों की रचना भी हुई। तभी उदण्ड मार्तण्ड, बंगदूत, प्रजामित्र, बनारस, सुधाकर तथा बुद्धिप्रकाश जैसी प्रत्रिकाएं प्रकाश में आयीं जिनमें हिन्दी के अनेक लेखकों ने नवजागरण काल के प्रमुख मुद्दों को लेकर लिखना शुरू किया।इन पत्रिकाओं ने हिन्दी गद्य को आगे बढ़ाने में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

सन 1856-57 के आसपास हिन्दी गद्य को अग्रसरित करने में दो राजाओं का महत्वपूर्ण योगदान है- राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द और राजा लक्ष्मण सिह। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द अंग्रेजी शिक्षा विभाग में इंस्पेक्टर के पद पर कार्य कर रहे थे। वह हिन्दी प्रेमी थे। उन्होंने शिक्षा हेतु हिन्दी में अनेक पुस्तकें लिखवायीं। उन्होंने स्वयं अनेक पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण क्यिा, इतना ही नहीं अपने मित्र पंडित श्रीलाल तथा वंशीधर आदि से कई पुस्तकें लिखवायीं। राजा साहब आमफ़हम की अरबी-फ़ारसी मिश्रित उर्दू शब्दों वाली हिन्दी के समर्थक थे। राजा साहब की इस उर्दू-मिश्रित भाषा के विरोध में राजा लक्ष्मण सिंह ने शुद्ध संस्कृत-निष्ठ हिन्दी को प्रतिष्ठित किया। अपनी इस विशिष्ट शैली में उन्होंने

कालिदास के 'मेघदूत' तथा 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' का हिन्दी अनुवाद किया। यह ठीक वही समय है जब पश्चिमी उत्तरप्रदेश तथा पंजाब में हिन्दू समाज को ईसाई धर्म-प्रचार से बचाने के लिए महर्षि दयानंद सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना की। महर्षि दयानंद सरस्वती के साथ नवीनचन्द्र राय तथा पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी आदि लोग थे। नवीनचन्द्र राय ने आर्यसमाज के प्रचार हेतु 'ज्ञान-प्रदायिनी-प्रत्रिका' संज्ञक एक पत्रिका निकाली। यहां यह तथ्य ध्यातव्य रहे कि आर्यसमाज का सारा प्रचार-कार्य हिन्दी के माध्यम से ही होता था, अत: प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में हिन्दी गद्य को समृद्ध-संपन्न करने में उसका जो योगदान है उसे नकारा नहीं जा सकता। दयानंद सरस्वती ने आधुनिक हिन्दी में 'सत्यार्थप्रकाश' नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ की हिन्दी अधुनातम हिन्दी के अत्यन्त निकट की भाषा है ऐसा कोई भी भाषाविद बता सकता है। स्वामीजी के अंतेवासी पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी ने हिन्दी में अनेक ग्रन्थों की रचना की— 'आत्मचिकित्सा', 'तत्वदीपक', 'धर्मरक्षा', 'उपदेश', संग्रह तथा 'भाग्यवती'। अंतिम रचना को हिन्दी का प्रथम उपन्यास होने का गौरव प्राप्त है।

यह बिल्कुल वही समय है जब हिन्दी में बाबू हरिश्चन्द्र भारतेन्दु का आविर्भाव हुआ । उन्होंने 'भारतेन्दु मंडल' नामक संस्था की स्थापना की। बाबू भारतेन्दु तथा उनके मंडल के लाला श्रीनिवास दास, प्रतापनारायण मिश्र, पं बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, किशोरी लाल गोस्वामी आदि लेखकों ने तत्कालीन हिन्दी गद्य को बहुआयामी बनाया। हिन्दी में उपन्यास, कहानी, निबंध, लेख, आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण, यात्रा-वृतान्त आदि अनेकविध विधाओं का साहित्य प्रकाशित होने लगा। कहना न होगा ये तमाम विधाएं गद्य की है।

परंतु अभी तक हिन्दी गद्य का कोई मानक रूप सामने नहीं आया था। भारतेन्दु तथा भारतेन्दु मंदल के लेखकों पर ब्रजभाषा का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उनकी कविता की भाषा ब्रजभाषा ही थी। तब तक ऐसा ही माना जाता था कि कविता तो ब्रजभाषा में ही लिखी जा सकती है। इस मिथ को तोड़ने का भगीरथ कार्य पं श्रीधर पाठक ने किया। उन्होंने खड़ीबोली का आंदोलन चलाया।

गद्यभाषा और काव्यभाषा के भेद को मिटाया। इससे खड़ीबोली गद्य पुष्ट हुआ। भारतेन्दुकालीन गद्य में व्याकरण की दृष्टि से अनेक गरबड़ियां थी। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ीबोली गद्य का परिमार्जन किया। उसे व्याकरण सम्मत एवं परिनिष्ठित रूप दिया। इसीलिए उनको हिन्दी का 'पाणिनि' कहा जाता है।'सरस्वती' पत्रिका के द्वारा उन्होंने अनेक लेखकों और कवियों को बनाया।

गुजराती में जो कार्य नर्मद ने किया था, उसीको हिन्दी में संपन्न करने का श्रेय भारतेन्दुजी को जाता है। उसके बाद पंडित श्रीधर पाठक तथा पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ीबोली गय को पूर्णरुपेण समुन्नत किया। शायद इसीलिए सन 1900 से 1920 तक के कालखण्ड को द्विवेदीयुग माना गया है। द्विवेदी जी के उपरान्त इस समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुंदरदास, माधवप्रसाद मिश्र, बाबू गुलाबराय, पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरजी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, अध्यापक पूर्णसिंह तथा पदमसिंह शर्मा आदि ने हिन्दी गद्य को विकसित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसकी तुलना हम गुजराती के 'पंडितयुग' से कर सकते है।

आधुनिक काल के हिन्दी गद्य की एक और विशेषता यह है कि उसमें अनेक नवीन विधाओं का पल्ल्वन हुआ है। इन विविध विधाओं के लेखकों ने अपने अपने ढंग से हिन्दी गद्य को विवेचन, विश्लेषण, तर्क-वितर्क, वर्णन आदि के लिए सक्षम बनाने का यत्न किया है। द्विवेदी युग के बाद के लेखकों मे प्रेमचंद, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', ऋषभचरण जैन, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवती चरण वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, उषादेवी मित्रा, तेजोरानी दीक्षित, शिवरानीदेवी, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्रकुमार, अज्ञेय, यशपाल, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भैरवप्रसाद गुप्त, डॉ रांगेय राघव आदि जो कथाकार है इन्होंने हिन्दी गद्य-रथ को और आगे बढ़ाया।

गद्य के संदर्भ में संस्कृत में कहा गया है –'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' – अर्थात गद्य कवियों की कसौटी है। किन्तु इस कसौटी पर छायावाद के कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', जयशंकर प्रसाद, सुमित्राणंदन पंत, सुश्री महादेवी

वर्मा आदि खरे उतरते है क्योंकि इन सबोंने खड़ीबोलि गद्य को ऊंचाइयों पर पहुंचाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है। डॉ. रामधारी सिंह दिनकर तथा अज्ञेय जैसे कवि भी हिन्दी गद्य को समुन्नत करने में अग्रसर रहे है।

वर्तमान समय में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्रा, डॉ. नामवर सिह, डॉ. विद्या निवास मिश्र डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ. रमेश कुंतल मेघ, डॉ. शिवकुमार मिश्र जैसे आलोचकों-विद्वानों ने तो दूसरी तरफ़ नागार्जुन, अमृतलाल नागर, अज्ञेय, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा रमेश बक्षी, शिवानी, कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, डॉ. रामदरश मिश्र, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, डॉ. राही मासूमरज़ा, शैलेश मटियानी प्रभृति कथाकारों ने हिंदी गद्य को अनेक दृष्टियों से समृद्ध किया है। हिन्दी गद्य को वेधक एवं व्यंजक बनाने में व्यंग्यकारों का योगदान भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। ऐसे व्यंग्यकारों में सर्वश्री हरिशंकर परसाई, श्रीलाल शुक्ल, शरदजोशी, रविन्द्र त्यागी, गोपाल चतुर्वेदी, लतीफ़ घोंघी, नरेन्द्र कोहली, शंकरपूण तांबेकर, काशीनाथ सिंह आदि मुख्य है।[52]

हिन्दी के समकालीन कथाकारों ने भी हिन्दी गद्य को समुन्नत करने में कोई कोर-कसर नहीं रखी है। इन कथाकारों में ममता कालिया, दीप्ति खंडलवाल, कुसुम असल, मंजुल भगत, मेहरुन्निसा परवेज, निरूपमा सेवती, शशिप्रभा शास्त्री, राज़ी सेठ, सुरेन्द्र वर्मा, विभूतिनारायण राय, श्याम बिहारी, दूधनाथ सिंह, काशीनाथ सिंह, असगर वजाहत, डॉ. भगवान सिंह, भगवानदास मोरवाल, संजीव, रामधारी सिंह दिवाकर, उदय प्रकाश, मुशर्रफ़ आलम जौकी, अब्दुल बिस्मिल्लाह, नासिरा शर्मा, सूर्यबाला सिंह, चित्रा मुद्रगल, सुश्री शरदसिंह, मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान, मधु कांकरिया, बिन्दु भट्ट आदि कुछ उल्लेखनीय नाम कहे जा सकते है।[53]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि उपन्यास-विधा के अनुकूल गद्य के विकास का प्रारंभ आधुनिक काल से होता है। उसके पूर्व जो गद्य मिलता है उस पर ब्रज, अवधी, भोजपूरी, राजस्थानी, दक्खिनी आदि का प्रभाव परिलक्षित होता है। उस गद्य के संस्कार भी प्राय: कविता से अनुप्राणित थे। यह भी ध्यान रहे कि

जिसे आज हम हिन्दी गद्य कहते है वह गद्य निश्चित रूप से खड़ी बोली गद्य है। उस खड़ी बोली गद्य का विकास आधुनिक काल में हुआ। हिन्दी उपन्यास का आविर्भाव भी आधुनिक काल की एक महत्वपूर्ण घटना है और पूर्ववर्ती पृष्ठों में एकाधिक बार यह भी कहा गया है कि जब गद्य सशक्त और समुन्नत होता है तभी उपन्यास आता है।

उपन्यास की भाषा: विनिन्न स्तर:

उपन्यास की भाषा में कई प्रकार के स्तर पाए जाते हैं, जिनमें निम्नलिखित मुख्य है - (1) सैद्धान्तिक दृष्टि से, (2) लेखकीय भाषा की दृष्टि से, (3) पात्र-निरुपण की दृष्टि से, (4) परिवेश की दृष्टि से (5) औपन्यासिक विधा की दृष्टि से और (6) शैली की दृष्टि से। अब बहुत संक्षेप में इनकी चर्चा क्रमश: रूप से की जायेगी।

1. सैद्धान्तिक दृष्टि से:

सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाए तो उपन्यास की भाषा गद्य भाषा है। पद्य में आज तक कोई उपन्यास नहीं लिखा गया। सभी औपन्यासिक आलोचकों ने एक स्वर से स्वीकार किया है कि उपन्यास गद्य की विधा है। सैद्धान्तिक आलोचना-ग्रन्थों में भी उपन्यास की विधा को गद्य-विभाग में ही रखा है।[54] पूर्ववर्ती पृष्ठों में यह भी स्पष्ठ किया गया है कि अंग्रेजी में भी 'नोवेल' तब आया जब एडीसन, स्टील आदि निबंध-कारों ने गद्य को विश्लेषण, वर्णन आदि के लिए सक्षम बनाया। हिन्दी में भी उपन्यास का विकास तब हुआ जब हिन्दी गद्य कुछ समुन्नत हुआ। प्रारंभिक हिन्दी उपन्यासों का गद्य कुछ कमजोर अवश्य था पर वह धीरे-धीरे शक्ति अर्जित कर रहा था। उदाहरण के तौर पर हम हिन्दी के प्रथम उपन्यास 'भाग्यवती' के गद्य को ले सकते हैं – "काशी नगरी में पंडित उमादत्तजी के घर में एक पुत्र उत्पन्न हुआ कि जिसका नाम लालमणि और पुत्री हुई कि जिसका नाम 'भाग्यवती' रखा। यह लालमणि चाहे छोटी-सी अवस्था में ही कुछ व्याकरण शास्त्र पढ़ चुका और संस्कृत बोलने की परीक्षा देकर एक पाठशाला में पन्द्रह रूपये मासिक पाता था। परन्तु सोलह वर्ष की आयु पर्यन्त इसका विवाह नहीं हुआ था। चाहे काशी के भीतर और बाहर से कई पंडितों ने लालमणि का गुण, यौवन और

प्रतिष्ठा सुन के अपनी कन्याओं का सम्बन्ध करना चाहा परन्तु उसके पिता कि यही इच्छा थी कि मैं लालमणी का विवाह अठारह वर्ष के पीछे करुंगा।... एक दिन लालमणि की माता ने अपने स्वामी से कहा महाराज लड़का अब सोलह वर्ष का हुआ और अपने हाथों से खाने-कमाने लग गया आप उसके विवाह का यत्न क्यों नहीं करते? देखो हमारे वंश के और सब बालक कोई नौ वर्ष का और कोई दस वर्ष का ब्याहा गया इनको देखके हमारे लालमणि के मन में अपने क्वारेपन की क्या लज्जा नहीं होगी?"[55]

अब इस गद्य को देखें और आज के गद्य के साथ उसकी तुलना करें तो स्पष्ट रूप से नजर आयेगा कि आज की दृष्टि से यह गद्य बहुत कमजोर है। अनेक स्थानों पर उभयान्वयी अव्यय 'कि' का अनावश्यक उपयोग हुआ है। पूर्ण-विराम और प्रश्नार्थ चिह्नों के अतिरिक्त अल्पविराम, अर्धविराम और अवतरण चह्नों को कोई प्रयोग नहीं है। भाषा भी परिवेश के अनुरूप है। यह उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की भाषा है, जहां पत्नियां अपने पतियों को 'स्वामी', 'प्राणनाथ', आदि कहती थीं। उदाहरण के प्रथम वाक्य को ही यदि लें –'काशी नगरी में पंडित उमादत्तजी के घर में एक पुत्र उत्पन्न हुआ कि जिसका नाम लालमणि और पुत्री हुई कि जिसका नाम भाग्यवती रखा। 'अब यदि आज कोई लेखक इसे लिखता तो वाक्य –रचना कुछ इस प्रकार की होती-'काशी शहर में पडित उमादत्तजी के घर एक पुत्र हुआ जिसका नाम लालमणि रखा गया और पुत्री हुई जिसका नाम भाग्यवती रखा गया।'

खैर हमारे कहने का अभिप्राय यही था कि सभी सैद्धान्तिक आलोचना के ग्रन्थों में उपन्यास को गद्य की विधा ही माना गया है। सशक्त गद्य की निर्मिति के बाद ही उपन्यास का उदभव हुआ, परन्तु यह भी उतना ही सच है कि इस गद्य को समुन्नत करने में उपन्यास विधा का बहुत बड़ा योगदान है।

2. लेखकीय भाषा की दृष्टि से :

उपन्यास में जो गद्य-भाषा हमें उपलब्ध होती है, प्रमुख रुप से उसके दो स्तर होते हैं-लेखक की भाषा और पात्रों की भाषा। ऐतिहासिक या वर्णनात्मक प्रकार के उपन्यासों में कथा लेखक के द्वारा कही जाती है, अंत: उपन्यास में

अनेक स्थानों पर हमें लेखक की भाषा उपलब्ध होती है। यह भाषा प्राय: प्रशिष्ट या मानक होती है। 'गोदान' उपन्यास के प्रारंभ में होरी अपनी पत्नी धनिया को मर्द के साठे पर पाठे होने की बात करता है। उस पर धनिया कुछ जली-कटी बात करती है। तब होरी कहता है-'साठे तक पहुंचने की नौबत न आने पाएगी धनिया। इसके पहले ही चल देंगे।' इस पर धनिया कहती है -- "अच्छा रहने दो, मत असुभ मुंह से निकालो। तुमसे कोई अच्छी बात भी कहे, तो लगते हो कोसने।" इस प्रसंग के बाद का जो वर्णन है, वह लेखक का है, यथा-"होरी कन्धे पर लाठी रखकर घर से निकला, तो धनिया द्वार पर खड़ी उसे देर तक देखती रही। उसके इन निराशा-भरे शब्दों ने धनिया के चोट खाए हुए हृदय में आतंकमय कंपन-सा डाल दिया था। वह जैसे अपने नारीत्व के सम्पूर्ण तप और व्रत से अपने पति को अभयदान दे रही थी। उसके अन्त:करण से जैसे आशीर्वादों का व्यूह-सा निकलकर होरी को अपने अंदर छिपाए लेता था। विपन्नता के इस अथाह सागर में सोहाग ही वह तृण था, जिसे पकड़े हुए वह सागर को पार कर रही थी। इन असंगत शब्दों ने यथार्थ के निकट होने पर भी, मानो झटका देकर उसके हाथ से वह तिनके का सहारा छीन लेना चाहा, बल्कि यथार्थ के निकट होने के कारण ही उनमें इतनी वेदना-शक्ति आ गई थी। काना कहने से काने को जो दु:ख होता है, वह क्या दो आखों वाले आदमी को हो सकता है,।"[56]

उपर्युक्त उदाहरण में होरी के जाने के बाद की धनिया की मन:स्थिति का विश्लेषण प्रेमचंदजी करते है। प्रेमचंद की भाषा सरल-सादी होते हुए भी कितनी सशक्त है उसका परिचय हमें यहां होता है।

उपन्यास में पात्रों के चरित्र-चित्रण की दो विधियां है - (1) प्रत्यक्ष और (2) परोक्ष। परोक्ष विधि में पात्रों के कथोपकथन तथा पात्रों की करनी से उनका चित्रण होता है, परंतु प्रत्यक्ष विधि में पात्र का चरित्र-चरित्र लेखक के द्वारा होता है। सेमरी गांव के जमींदार रायसाहब अमरपालसिंह किस प्रकार के व्यक्ति है उसका चित्रण स्वयं लेखक इस प्रकार करते है—"पिछले सत्याग्रह-संग्राम में रायसाहब ने बड़ा यश कमाया था। कौसिल की मेम्बरी छोड़कर जेल चले गए थे। तबसे उनके इलाके में असामियों को उनसे बडी श्रद्धा हो गई थी। यह नहीं कि उनके इलाके में

असामियों के साथ कोई खास रियायत की जाती हो, या डांड या बेगार की कड़ाई कुछ कम हो; मगर यह सारी बदनामी मुख्तारों केसिर जाती थी। रायसाहब की कीर्ति पर कोई कलंक न लग सकता था। वह बेचारे भी तो उसी व्यवस्था के गुलाम थे। जाब्ते का काम तो जैसे होता चला आया है, वैसा ही होगा। रायसाहब की सज्जनता उस पर कोई असर न डाल सकती थी, इसलिए आमदनी और अधिकार में जौ-भर की कमी न होने पर भी उनका यश मानो बढ़ गया था। असामियों से वह हंसकर बोल लेते थे। यही क्या कम है? सिंह का काम तो शिकार करना है; अगर वह गरजने और गुर्राने के बदले मीठी बोली बोल सकता, तो उसे घर बैठे मनमाना शिकार मिल जाता। शिकार की खोज में जंगल में न भटकना पड़ता।... रायसाहब राष्ट्रवादी होने पर भी हुक्काम से मेल-जोल बनाए रखते थे। उनकी नज़रें और डालियां और कर्मचारियों की दस्तूरिया जैसी की तैसी चली आती थीं। साहित्य और संगीत के प्रेमी थे, ड्रामा के शौकीन, अच्छे वक्ता थे, अच्छे लेखक, अच्छे निशानेबाज। उनकी पत्नी को मरे आज दस साल हो चुके थे; मगर दूसरी शादी न की थी। हंस-बोलकर अपने विधुर जीवन को बहलाते रहते थे।"[57] यहां रायसाहब का राष्ट्रवादी-सामंतवादी कांग्रेसी चरित्र प्रेमचंद की सूक्ष्म यथार्थवादी शैली में प्रत्यक्ष हुआ है।

3. पात्र-निरुपण की दृष्टि से:

ऊपर उपन्यास में चरित्र-चित्रण की दो विधियां बताई गई है -- (1) प्रत्यक्ष विधि और (2) परोक्ष विधि। प्रत्यक्ष विधि में तो लेखकीय भाषा होती है, परंतु परोक्ष विधि में जहां पात्रों के कथोपकथनो से चरित्रों पर प्रकाश पड़ता है, वहां लेखक पात्रों की भाषा का प्रयोग करता है। पात्र जिस परिवेश और समाज के होते है उसके अनुरुप भाषा का प्रयोग होता है। राल्फ़ फ़ोक्स महोदय ने शायद इसीलिए कहा था - 'ए नोवेल इज़ नोट मियरली फ़िक्शनल प्रोज, इट इज़ ए प्रोज आफ़ मेन्स लाईफ़,' – अर्थात केवल प्रकथनात्मक गद्य मात्र नहीं है, वह मानव-जीवन का गद्य है।[58] मानव जीवन के गद्य से फ़ोक्स महोदय का आशय 'बोलचाल की भाषा' स्पोकन लैंग्वेज़ से है। मानक या प्रशिष्ट भाषा उतनी नमकीन, उतनी जीवन्त नहीं होती। भाषा-वैज्ञानिकों का मानना है कि भाषा का विकास बोलचाल

की भाषा से ही होता है। कबीर जो भाषा को 'बहता नीर' कहते है, वह यही भाषा है। आज की हिन्दी का विकास शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के बोलचाल के रूप से हुआ है। बोलचाल की भाषा में एक प्रकार का लचीलापन होता है जो उसके विकास के द्वारों को खुला रखता है। मानक भाषा तो 'बंधियार' हो जाती है। किसी भी भाषा में उसके दो रूप साथ-साथ चलते हैं – मानक या स्टाण्डर्ड रूप और बोलचाल का रूप। मानक रूप पूरे प्रदेश में एक जैसा होता है। उदाहरणतया गुजरात प्रदेश की भाषा गुजराती है। उसका मानक रूप, लिखित रूप, शिक्षा के माध्यम का रूप पूरे गुजरात में एक जैसा ही रहेगा; परंतु बोलचाल के रूप में तो कई रूप सामने आयेंगे। "चार कोश पर बानी बदले जाने की" जो बात कही गई है, वह इसी संदर्भ में है। इस तरह तो गुजरात में उसकी "बानियों" या "बोलियों" की संख्या सौ के करीब बैठ सकती है, पर मोटे तौर देखा जाय तो दक्षिण गुजरात की बोली, पारसियों की गुजराती बोली, मध्य-गुजरात वालों की बाली, काठियावाड़ी बोली, कच्छी बोली, उत्तर गुजरात वालों की बोली यों कुल छः बोलियां हो जाती है। ग्रामीण और नगरीय लोगों की बोली में, महानगरों तथा कस्बों की बोली में भी थोड़ा-बहुत अंतर तो आ ही जाता है। विभिन्न जातियों और कौम के लोगों की बोली में भी थोड़ा-बहुत अंतर पाया जाता है। गुजराती के सुप्रसिद्ध ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता कवि-आलोचक डॉ. उमाशंकर जोशी ने रेणु के "मेला आँचल" की समीक्षा करते हुए लिखा है कि "मैला ऑचल" में रेणु ने लगभग डेढ़-सौ के करीब "बोलियों के टोन्स" दिये हैं।[59] यों तो मेरे पुरखों का वतन राजस्थान है, परंतु तीन-सौ चार-सौ साल पहले हमारे पूर्वज गुजरात में आकर बस गये थे। अतः मेरे बाप-दादों का गांव तो बड़ौदा जनपद के वाघोड़िया तहसील का "गुताल" है। सिर्फ मेरे गांव की बात करुं तो उसमें विभिन्न जातियों और कौमों की बोलियों के छः रूप प्राप्त होते हैं। मेरे चाचा इन बोलियों की अच्छी मिमिक्री करते थे। उनके मुंह से सुनी हुई बातों के आधार पर दो-तीन उदाहरण प्रस्तुत करती हूं, जो मानक गुजराती से काफी दूर पड़ते हैं, यथा – "शंकरिया, तू खोडा मारधरियाने जेवो-तेवो न मांनतो, अरे! ए खोडो मारधरियो तीन इस्टोमनो धणी छे![60] यहां 'शंकरिया', 'खोडो' वगैरह व्यक्तिवाचक संज्ञाएं है। 'मारधरिया'

शब्द 'माडोधर' से निष्पन्न हुआ है। उन लोगों में नाम के पीछे गांव का नाम बोलने की प्रथा है, जैसे 'खोडो मारधरियो', 'शंकर गुतालो' आदि-आदि। 'इस्टोम' वे लोग सौ की नोट को कहते थे। आज से सत्तर-अस्सी साल पहले सौ रूपये का जो मूल्य था, उसका संकेत यहां मिलता है। उस जमाने में किसी के पास यदि तीन-सौ रूपये हों तो उसकी गिनती उन लोगों की जाति में अमीर या 'मालदार' लोगों में होती थी। ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण अहीर या भरवाड़ जाति का है – "पूजिया, मोखरी कर वेळो चातरे छे! "यहां 'पूजिया' याने 'पूजाभाई', 'मोखरी करना' अर्थात् दूध में पानी मिलाना, "वेळो चातरे छे" अर्थात् "कोई दूध लेने आ रहा है।" "इसे ही राल्फ फोक्स "मानव-जीवन का गद्य" कहते हैं। यह गद्य जितना चटपटा, जितना जीवंत, जितना लक्षणा-व्यंजना युक्त, कहावतों और मुहावरों से भरपूर होता है, उतना मानक-गद्य नहीं होता।

अंग्रेजी विदुषी इरा वाल्फर्ट ने भी उपन्यासों की भाषा के संदर्भ में लिखा है – "Language of human life being lived." -- अर्थात् उपन्यास में अधिकांशतः "स्पोकन-लैंग्वैज" का प्रयोगा होता है। जहां लेखक अपनी तरफ से कोई बात करता है, कोई वर्णन या विश्लेषण प्रस्तुत करता है, वहां तो मानक या प्रशिष्ट भाषा-गद्य प्रयुक्त होगा, किन्तु जहां पात्र बोलेंगे वहां भाषा उनकी बोलचाल की भाषा होगी। भाषा और पात्र का अन्तर्सम्बन्ध क्या होता है वह हम प्रेमचंद, रेणु, नागार्जुन, मटियानी इत्यादि के उपन्यासो में बखूबी देख सकते हैं। सन् 1857 के विप्लव में हिन्दू और मुसलमान कंधे से कंधा मिलाकर लडे थे, अतः बाद में अंग्रेजों ने इन दोनों कौमों में जहर के बीज बोने शुरू किये थे। प्रेमचंद के उपन्यास 'सेवासदन' के दो मुसलिम पात्रों के संवाद की भाषा से यह भलीभांति प्रमाणित हो जाता है, यथा – "हाजी हासिम बोले -- 'बिरादराने वतन की यह नयी चाल आप लोगों ने देखी? वल्लाह इनको सूझती खूब है! बगली घूंसे मारना कोई इनसे सीख लें। मैं तो इनकी रेशादवानियों से इतना बदजन हो गया हूं कि अगर इनकी नेकनीयती पर ईमान लाने में नजात भी होती, तो न लाऊं। "अबुल बफ़ा ने फरमाया – "मगर अब खुदा के फजल से हमको भी अपने नफे-नुकसान का अहसास होने लगा है। यह हमारी तादाद को घटाने की सरीह कोशिश है। तवायफें

SMT. HANSA MEHTA LIBRARY
University of Baroda

90 फी सदी मुसलमान है, जो रोजे रखतीं है, इजादारी करती हैं, मौलूद और [illegible] करती हैं। हमको उनके जाती फेलों से कोई बहस नहीं है। नेक व बद की सज़ा व ज़बा देना खुदा का काम है। हमको तो सिर्फ़ उनकी तादाद से गरज है। आलिहाजा, मुझे रात को आफ्ताब पर यकीन हो सकता है, पर इन हिन्दुओं की नेकनीयती पर यकीन नहीं हो सकता।" [61] उपर्युक्त परिच्छेद में व्यक्त विचारों से ज्ञात हो जाता है कि अंग्रेज इन दो कौमों के बीच दरार पैदा करने में किस हद तक कामयाब हो गये थे। असल समस्या चौक से वेश्याओं और तवायफों को हटानेकी है, बल्कि वह भी नहीं है। असल समस्या तो यह है कि एक ऐसे चुस्त दुरुस्त समाज की रचना करना है ताकि वेश्याओं का उद्भव ही नहो, किन्तु बनारस के हिन्दू और मुसलमान दोनों तबकों के पार्षद इस समस्या को अपने नजरिये और स्वार्थ से देखते हैं। वस्तुतः हमारा मकसद यहां मुसलिम पात्रों की भाषा से है। ऊपर उनकी भाषा उर्दू या हिन्दुस्तानी है। उसमें अरबी-फारसी के कई शब्द आये हैं।

उपन्यास में पात्र की भाषा के संदर्भ में एक उदाहरण डॉ. भगवान सिंह के उपन्यास 'अपने अपने राम' से यहां उद्धृत कर रही हूं। प्रसंग राम-अहल्या संवाद का है। उसमें राम अहल्या से कहते हैं – "आप पतित नहीं हो सकतीं, मां। जो पतित होते हैं वे अपने जघन्यतम कृत्य पर भी अपने को पतित नहीं कहते। वे अपने पातकों को लेकर गर्व करते हैं। उनकी चेतना अहंकार से इतनी मलिन हो चुकी होती है कि वे अपने पातकों को समझ ही नहीं पाते। जिनमें पतित होने का बोध है, जो उन अहंकारियों द्वारा पातकी कहे जाते हैं, वे या तो अज्ञान, अपज्ञान या विवशता के कारण उनके ही पापों और पातकों का बोझ अपने ऊपर ओढ़ लेते हैं, या उनके द्वारा लादे गए पातक के बोझ को ढोने को बाध्य कर दिए जाते हैं... तुम पतित नहीं हो मां। तुमने दूसरों के पातक का प्रक्षालन अपनी पीड़ा और यातना से किया है, जैसे मां अपनी गोद से बच्चे के मलोत्सर्ग का प्रक्षालन करती है। हां मां, अपने समस्त अहंकार के बावजूद पुरुष जाति स्त्री के सम्मुख एक शिशु ही बना रह जाता है – अपनी धात्री और पोषिका को ही दूषित और मलिन करके किलकारियां भरने वाले शिशु से अधिक क्या है वह।"[62]

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि उपन्यास में पात्र-निरूपण करते समय भी लेखक भाषा का ध्यान विशेष-रूप से रखता है। जैसे परकाया-प्रवेश कहा जाता है, वैसे यहां लेखक पर-जिह्वा-प्रवेश करता है, अतः यहां भाषा पात्र की होती है।

4. परिवेश की दृष्टि से:

जैसे लेखक पात्रों के अनुरूप भाषा का चुनाव करता है, ठीक वैसे ही उसे परिवेशानुरुप भाषा का प्रयोग भी करना पड़ता है। 'परिवेश' का अर्थ है देशकाल। 'देशकाल' में दो शब्द हैं – 'देश' और 'काल'। देश का मतलब है स्थान या प्रदेश, और 'काल' से अभिप्राय है समय या युग-विशेष। उपन्यास में भाषा का प्रयोग दोनों तत्वों को ध्यान में रखकर होता है।

(क) स्थान या प्रदेश की दृष्टि से भाषा का प्रयोग: गुजराती में कहावत है – 'बार गाऊए बोली बदलाय'। अर्थात् बारह कोश की दूरी हो जाने पर भाषा या 'बोली' बदल जाती है। अरे, कई बार तो एक गांव की बोली और दूसरे गांव की बोली में फरक आ जाता है। हमारा गांव है गुताल। उसकी बगल में वेसणिया करके गांव है, पर वहां के लोगों की बोली और हमारे गांव के लोगों की बोली में काफ़ी अंतर है। वहां अपने से बड़े या बुजुर्ग व्यक्ति के आगे वे लोग 'होन' शब्द लगाते हैं, जैसे मोहनहोन, लखमीहोन , चंचळहोन आदि। हमारे आलोच्य उपन्यासो में से एक – 'काशी का अस्सी' उपन्यास है। उसमे काशी या बनारस का जो 'अस्सी' लोकेल है, वहां के लोगों की बोली-ठोली का उपयोग हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है:

"रामजी हंसने लगे – "ई भोंसड़ी के प्रचार कर रहे हैं कि रामजी राय बसपा को बोट देंगे। अवधेशं सिंघवा भी तो लड़ रहा है हियां से, मायावती के टिकट पर। आया भी था मेरे पास। संदेश भी भेजा था। भई, भाई है अपना। जात बिरादर है। नारा भी सुना होगा आपने – "पत्थर रखो छाती पर! मोहर मारो हाथी पर"। इससे पहले भूमिहारों के वोट भाजपा को जाते थे। अब की गड़बड़ा रहा है तो लुत्ती लग गई है सबकी गांड़ में। "... देखिए, देखिए" मिश्राजी हंसे – कांख में भाजपा, अंगूठे पर बसपा। यह सीधे-सीधे नहीं बोलेगा। अरे, ईमान-धरम से बोलो न, किसीसे नहीं

कहेंगे, बताओ।"... "तुम भी तो बताओ अपना। कल रत्नाकर पड़वा ने जनेऊ बंटवाया है बामनों में। हाथ में जनेऊ और गंगाजल देकर कसम खिलाई है तुम सबको। बोलो है कि नहीं?" ... "है, बिलकुल सही है। देखो, एक जनेऊ मुझे भी मिला है, यह देखो, मिश्राजी ने जेब से जनेऊ निकालकर दिखाया, 'लेकिन भूमिहार भूमिहार हैं। बड़ी पुरानी मसल है – "भाई, भतीजा, भानजा, भांड,भूत, भुइंकार; ए छओ भकार से, सदा रहो हुसियार" ... अच्छा तो, खींच ल्यौ थुन्हीं, सलाम भाई खंडहर। रामजी राय चल रहे हैं?" रामजी राय चले और चार कदम चलक़र लौट आए – "...सड़ी के सौ करोड़ की आबादी में पाँच झंटकुली सीपीआई और दिखाएंगे ऐसे कि ये न हों, तो देश ही न चले।"[63]

यहां चुनाव का माहौल है। स्थान है काशी का 'अस्सी लोकेल'। अतः उनकी ही बोली-बानी में, मय कहावत और गालियों के वर्णन किया गया है।

'वे दिन' निर्मल वर्मा का उपन्यास है। उसमें चेकोस्लोवेकिया के प्राग शहर (जिसको सिटी आफ ड्रीम्स कहा गया है।) के परिवेश को चित्रित किया गया है। उसकी आस्ट्रीयन नायिका रायना टूरिस्ट की हैसियत से प्राग आई है और उसका नायक उसके लिए इण्टरप्रेटर का काम करता है, अतः प्राग के 'इजेरा', 'पेलिकोन', 'रिल्के रेन्देवु (रिल्के जहां बैठकर कविताएं लिखते थे), 'वेन्सलेस स्क्वायर', 'लारेन्तो चर्च', 'सेण्ट ज्योर्ज स्क्वायर' आदि स्थानों का वर्णन आना तो लाजमी ठहरा। खुद वर्माजी वहा रह चुके है, अतः वर्णन में यथार्थता तो रहेगी ही। ठण्डा मुल्क होने के सबब यूरापीय देशों में मधपान चाय-काफी की भांति सामान्य है। अतः उपन्यास में कमज़कम एक दर्जन शराबों के नाम मिलते हैं, जैसे – वोडका, स्लिवोबित्से, बियर, शेरी, कोन्याक; स्लोवाकियन, ड्राई मार्टिनी, तोकाई आदि-आदि। कहीं-कहीं किसी शराब-विशेष की खासियतों का भी वर्णन मिलता है, यथा – "कोन्याक अद्भुत चीज है। और चीजें प्यास बुझाती हैं, कोन्याक उससे खेलती है और वह खलती नहीं हैं। वह खोलती है ... दिनभर के जमा किए शब्दों को।"[64]

'जगदम्बाप्रसाद दीक्षित के उपन्यास मुर्दाघर' में माहिम (मुंबई) की झोंपडपट्टी का चित्रण है, अतः एक स्थान पर हीरा नामक वेश्या पुलिस के

दारूवाला-मटकावाला के साथ के सम्बन्धों का पर्दाफाश करते हुए कहती है – "पोलिस लोक का धाड़ होइंगा आज फिर... कइसा मालम पड़ा तेरेकू?... वो दारूवाला किस्तैया और वो मटकावाला... दोनों चले गया इधर से। किस्तैया दारू का सब पीपा हटा दिया। मटकावाला भी अपना कागद-वागद ले के चले गया। ... ये साला लोक पोलिस लोक कू हप्ता देता ना। वो इनकू पेला से बोलके रखता।"[65]

उपर्युक्त उदाहरण में हमें बम्बइया – हिन्दी का टोन स्पष्ट सुनाई पड़ता है। अभिप्राय यह कि उपन्यास की भाषा या बोली पर स्थान या प्रदेश का विशेष महत्व रहता है।

(ख) काल या समय की दृष्टि से भाषा का प्रयोग : उपन्यास लेखक को उपन्यास में निरुपित काल या समय का भी ध्यान ध्यान रखना पड़ता है। उपन्यास जिस काल का हो, उस समय की भाषा का प्रयोग लेखक को करना पड़ता है। अब यहां एक प्रश्न पैदा होता है कि उपन्यास में निरूपित काल यदि अति-प्राचीन हो, इतना प्राचीन कि तब की भाषा संस्कृत हो, तो क्या लेखक संस्कृत में उपन्यास लिखेगा? इसका उत्तर यह है कि तब लेखक यथासंभव संस्कृतनिष्ठ भाषा को प्रयोग में लायेगा। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'वयं रक्षामः' नामक पौराणिक उपन्यास में रामायणकाल को लिया है, अतः भाषा भी उसी प्रकार की है, यथा – "नृत्य कर रही थी चतुष्पथ पर। विषधर भुजगिनी के समान दोनो अनावृत भुज-मृणाल हवा में लहरा रहे थे। उगलियां चर्मटिका खंजरी पर मृदु आघात कर चरणाघात के सम पर ध्वनित कर रही थीं। चारों और आबाल-वृद्ध, नर-नागर, नर-नाग, देव-दैत्य, गन्धर्व-किन्नर, असुर-मानुष, आर्य-व्रात्य। बहुत देर तक नृत्य करती रही, गाती रही, हंसती रही, हंसाती रही, लुभाती, रिझाती रही। सभी नर-नाग, देव-दैत्य, असुर-मानुष, आर्य-व्रात्य विमोहित हो उस कज्जल-कूट गहन श्यामल अनावृत्त उन्मुख यौवन के विलासको देख हर्षोन्मत्त हो गए। नृत्य की समाप्ति पर बालिका पर स्वर्ण-खण्ड बरसाने लगे। किसीने आंखों से पिया वह रूप-ज्वाल, किसीने हंसकर आत्मसात किया उसे, किसीने स्वर्णदान देते हुए स्पर्श किया उसका कमल-कोमल-करतल। किसी पर उसने भूपात किया, किसी पर कटाक्षपात। किसी पर बंकिम दृष्टि दी और किसीको देखकर हंस दी।"[66]

सुरेन्द्र वर्मा का उपन्यास आधुनिक काल के एन.एस.डी. के परिवेश को रूपाथित करता है। उपन्यास आधुनिक काल के नायिका का एंटनं पावलोविच चेखव से भावात्मक लगाव है। नायिका वषा वसिष्ठ उर्फ सिलबिल का एक एकालाप सुनिये – "एंटन पावलोविच, तुम्हारे पास पहुंचने का रास्ता इंट्यूशन और फीलिंग का है। तुम्हारी नाट्य-कृति के मोहक अंतर्प्रवाह उसे तेजस्वी बनाते हैं। तुम्हारे चरित्रों की 'अक्रियाशीलता' उनके जटिल भावजगत का चित्तरंजक आवरण है। तुम्हारे मंचीय कार्यकलाप के गूढ़ार्थ को समझने पर ही प्रस्तुति में प्राण फूंके जा सकेंगे। तुम्हारे चरित्रों को 'जिया' जाना चाहिए, तभी उनके आत्मिक विकास की गहन रेखाएं उजागर होंगी। ... एंटन पावलोविच, सच-सच बताना, ओल्गा निपर में तुमने क्या देखा, जो वह तुम्हारी प्रेमिका भी बनी और पत्नी भी? उस छुटकी, मुटल्ली में ऐसा कुछ नहीं, जो उसे श्रेष्ठ अभिनेत्री बनाये!" [67]

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि उपन्यासकार अपने उपन्यास में जिस भाषा को नियोजित करता है, वह जिस भाषा से काम लेता है, उसमें परिवेश का, अर्थात् 'देश' और 'काल' का सविशेष ध्यान रखा जाता है।

(4) औपन्यासिक विधा की दृष्टि से भाषा का प्रयोग :

उपन्यास अपने आप में एक विधा है, परंतु उसके भी औपन्यासिक रूप अलग-अलग हो सकते है, जैसे – सामाजिक उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास, समाजवादी उपन्यास, आंचलिक उपन्यास, पौराणिक उपन्यास, व्यंग्य उपन्यास आदि-आदि। सामाजिक उपन्यासों में उपन्यास मे निरूपित समस्याएं व प्रसंग समसामयिक होते हैं, अतः भाषा भी उसीके अनुरूप होती है। मनोवैज्ञानिक व समाजवादी उपन्यासों में भाषा क्रमशः मनोवैज्ञानिक शब्दावली एवं समाजवादी शब्दावली से युक्त होती है। आंचलिक उपन्यास में अंचल-विशेष की बोली का प्रयोग होता है। यहां हम आंचलिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, नाटकीय और व्यंग्यात्मक उपन्यास की पड़ताल भाषा या बोली के संदर्भ में कर रहे हैं।

"काशी का अस्सी" को एक लिहाज से हम आंचलिक कह सकते हैं, क्योंकि उसमें काशी के 'अस्सी' लोकेल को ही केन्द्र में रखा गया है। वहीं से 'पांडे

कौन कुमति तोहे लागी' वाले अध्याय से निम्नलिखित पंक्तियां उद्धृत कर रहे हैं – " कहना तन्नी गुरु का कि अस्सी-भदैनी का ऐसा कोई घर नहीं जिसमें पंडे, पुरोहित और पंचांग न हों और ऐसी कोई गली नहीं जिसमें कूड़ा, कुत्ते और किराएदार न हों। तो पंचांग और किराएदार – ये जीविका के सहारे थे पंडों के। पंचांग तो कोई बात नहीं, लेकिन समय बदलने के साथ किरायेदार हरामी होने लगे। ... ऐसे में जगह दो दया करके, किराया बस इतना कि समझो मुफ्त में लिकिन महीने के अन्त में हर बार किच-किच। बिजली का बिल हो तो किच-किच। इस तरह तारी ज़िन्दगी किचाइन करो और जरा-सी भी आंखें भजीं नहीं कि कोठरी गई हाथ से :, उनके नाम अलोट! ... ऐसे में बाबा विश्वनाथ से अपने भक्तों का यह दुःख देखा नहीं गया। उन्होंने विदेशियों को भेजना शुरू किया – बड़े पैमाने पर। संगीत-समारोहों और घाटों के दर्शन के लिए!... धीरे-धीरे केदार घाट से लेकर नगबा के बीच के सारे घाटों के मकान लोज बनने लगे। लेकिन वे ज्यादातर लोज थे, होटल नहीं।... बामन तो उन्हें अपने घर में जगह देने से रहे, लेकिन निचली जातियों ने नगर में एक नयी संस्कृति चालू की -- 'पेइंग गेस्ट' की!... मुहल्ले के बामन-ठाकुर उन्हें गरियाते रहे, धिक्कारते रहे, सरापते रहे – लेकिन उनकी हैसियत में फरक आते देखकर पछताते भी रहे!... गोबर, मूत, टट्टी, सांड, खुले सीवर, पनाले, कूड़े-कचरे और दाएं-बाएं की दीवारो को दरेरते जब कन्नी गुरु शास्त्रीजी के मकान पर पहुंचे तो अंगरेजिन को बड़ा-सा बोर्ड दिखाया – "यू सी, ए ग्रेट पंडित! व्याकरणाचार्य।, जोतिषाचार्य।, भिषगाचार्य, वेदाचार्या! यू सी मैनी आचार्यजा! व्हाट अण्डरस्टैण्ड? पामिस्ट आल्सो! हिन्दी इन ट्वेण्टी सेवन डेज! संस्कृत इन सिक्स मन्थ! ,,, अलकतरे से पुते काले किवाड! दुपलिया! कोई 'कालबेल' नहीं !... 'अचारिन"! हिज वाइफ़!"कन्नी धीरे से बोले और हाथ जोड लि्ये! कन्नी की देखादेखी अंगरेज़िन ने भी हाथ जोडे-- 'नामास्ते !... जाने कहां-कहां से फांस लाता है नई-नई रंडियों को लौंडा का नाती!...' पड़ाइन बुदबुदायी... थैंक यू वेरी मच, लेकिन बैठेंगे नहीं'... मैडस वेलकम कर रही है, लेकिन आचार्यजी नहीं है घर परा... मित्रो! कन्नी तन्नी के कोई नहीं! चेहरा ऐसा कि तन्नी की औलाद लगे, लेकिन तन्नी के कोई नहीं कन्नी! ऐसे तो मुतफन्नी

गुरु, पन्नी गुरू, अठन्नी गुरु – कइयों के चेहरे तन्नी जैसे है! यह माटी ही ऐसी है, इसके लिए तन्नी क्या करें? वे अपने लंगोट के जिम्मेदार हैं, दूसरों के लहंगों के नहीं। कोई लहंगा उठाए-जहां-तहां घूमता फिरे तो बेचारे तन्नी का क्या दोष?"[68]

उपर्युक्त परिच्छेद में जो भाषा-बोली प्रयुक्त हुई है, वह काशी के 'अस्सी' लोकेल की है। संस्कृत-हिन्दी-अंग्रेजी-भोजपुरी सभी से बनी एक खिचड़ी भाषा, अस्सी की आंचलिकता लिए हुए।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित 'चारु-चन्द्रलेख' ऐतिहासिक उपन्यास है। उसमें ग्यारहवीं शताब्दी के मुसलिम-आक्रमणों का समय है। अतः एक स्थान पर गुरु गोरक्षनाथ अमोध-वज्र को कहते हैं – "सारे जगत को भूलकर अपनी मुक्ति की चिन्ता करना सबसे बड़ी माया है। ... (आप) जलते हुए शस्य-क्षेत्रों की उपेक्षा नहीं कर सकते, टूटे हुए मंदिरों से आँख नहीं मुँद सकते, ललकते हुए शिशुओं और धिधियाते हुए वृद्धों की और से कान नहीं बन्द कर सकते। आप संगठित होकर ही संगठित अत्याचार का विरोध कर सकते हैं। यह सुन्दरी-साधना, यह महायौनाचार, यह चक्र पूजा, यह महाविद्यासिद्धि आपको नहीं बचा सकती। जिस दिन बजेश्वरी विहार पर एक सहस्त्र विदेशी सैनिकों ने 'दीन दीन' कहकर हमला किया, उस दिन फेरूक (फेरूक वज्र – एक महासिद्ध) की विद्या न जाने कहां लुप्त हो गई। वशीकरण और मोहन की दुरन्त कला एक सहस्त्र चित्रों से मिलित जयोन्माद को रत्ती-भर भी इधर-उधर नहीं मोड़ सकी।"[69] इसमे द्विवेदीजी ने हमारे पराजय के कारणों का विश्लेषण किया है और साथ ही युगानुरूप भाषा का प्रयोग भी किया है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री का 'वयं रक्षामः' उपन्यास पौराणिक है। एक स्थान पर वह लिखते हैं – "विश्वामित्र के बहनोई ऋचीक जैसे वेदर्षि थे, वैसे ही मन्त्र, यन्त्र, तंत्र और शस्त्रविद्या में भी एक थे। उन्होंने विश्वामित्र को अनेक दिव्यास्त्र दिए। दण्ड-चक्र, काल-दण्ड, कर्म-चक्र, विष्णु-चक्र, तथा इन्द्र-चक्र; शिवशूल, ब्रह्मास्त्र और इषीकास्त्र जो मन्त्र-बल से चलते थे, उन्होंने दिए। मोदकी और शिखरी-भेद दो गदायुद्धों के रहस्य सिखाए। धर्मपाश, कालपाश और वरुणपाश दिए। सूखे और गीले वज्र दिए तथा पिनकास्त्र, नारायणास्त्र, आग्नेयास्त्र,

वायवास्त्र, हयशिर और कौंच-महास्त्र यत्न से सिखाए। मुशल और किंकणी अस्त्र भी दिए। फिर विद्याधरास्त्र, नन्दनास्त्र, दो प्रकार के खड्ग, पैशाचास्त्र, मोहास्त्र, प्रस्वापनास्त्र, वर्हास्त्र, शोहणास्त्र, समापनास्त्र, विलयनास्त्र, भावनास्त्र, जो अति महत्वपूर्ण थे सिखाए। इन महास्त्रों के कारण विश्वामित्र की शक्ति अपार हो गई। यह सब महास्त्र उन्होंने श्रीराम और लक्ष्मण को उस समय प्रयोग-संहार सहित सिखाए थे, जब उन्हें ताडकावध के लिए नैमिषारण्य में ले गये थे।"[70] यहां पर सात हजार वर्ष पूर्व रामायण काल-त्रेतायुग – में जिन-जिन शस्त्रास्त्रों का प्रयोग होता था उसका वर्णन है। सारे शस्त्रास्त्रों के नाम संस्कृत के हैं।

'मुझे चाँद चाहिए' सुरेन्द्र वर्मा का एक नाटकीय उपन्यास है। अतः उसकी भाषा भी नाटकीयता लिए हुए हैं, यथा – "सिलबिल की बात पूरी नहीं हो पायी। हर्ष ने उसके बाये उरोज को चुंबनों की लड़ी से बांधते हुए चूचुक को होंठों में भर लिया। सीत्कार के साथ सिलबिल की सांस रुक गयी ... उसकी जीन्स का बटन काज से निकला और जिप खुली। कुमारी कन्या के नीवि-बंधन को न छेड़ो आर्यपुत्र!"[71] यहां अंतिम वाक्य एकदम नाटकीय ढंग से कहा गया है, जो उपन्यास के रूपबंध के अनुरूप है।

श्रीलाल शुक्ल द्वारा प्रणीत उपन्यास 'राग दरबारी' एक व्यंग्य उपन्यास है। यहां उसकी बोली-बानी का एक उदाहरण देखिए – "उन्होंने (वैद्यजीने) देखा कि प्रजातंत्र उनके तख्त के पास जमीन पर पजों के बल बैठा है, उसने हाथ जोड़ रखे हैं। उसकी शक्ल हलवाहों जैसी है और अंग्रेजी तो अंग्रेजी, वह शुद्ध हिन्दी भी नहीं बोल पा रहा है। फिर भी वह गिड़गिड़ा रहा है और वैद्यजी उसका गिड़गिड़ाना सुन रहे हैं। वैद्यजी बारबार तख्त पर बैठने के लिए कहते हैं और समझाते हैं कि तुम गरीब हो तो क्या हुआ, हो तो हमारे रिश्तेदार ही, पर प्रजातंत्र उन्हें बार-बार हुजूर और सरकार कहकर पुकारता है। बहुत समझाने पर प्रजातंत्र उठकर उनके तख्त के कोने पर आ जाता है और जब उसे इतनी सांत्वना मिल जाती है कि वह मुंह से तुक की बात निकाल सके तो वह वैद्यजी से प्रार्थना करता है कि मेरे कपड़े फट गए हैं, मैं नंगा हो रहा हूं। इस हालत में मुझे किसीके सामने निकलते हुए शर्म लगती है, इसलिए हे वैद्यजी महाराज, मुझे एक साफ-सुथरी धोती पहनने को दे

दो। वैद्यजी बद्री पहलवान को अन्दर से एक धोती लाने के लिए कहते हैं; पर प्रजातंत्र इन्कार में सर हिलाने लगता है। वह बताता है कि मैं आपके कालेज का प्रजातंत्र हूं और आपने यहां की सालाना बैठक बरसों से नहीं बुलाई है। मैनेजर का चुनाव कालेज खुलने के दिन से आज तक नहीं हुआ है। इन दिनों कालेज में हर चीज फल-फूल रही है, पर सिर्फ़ मैं ही एक कोने में पड़ा हुआ हूं। एक बार कायदे से आप चुनाव करा दें। उससे मेरे जिस्म पर एक नया कपड़ा आ जाएगा। मेरी शर्म ढँक जाएगी।"[72]

यहां पर लेखक ने हमारे देश में प्रजातंत्र की जो दयनीय स्थिति है उसका फैण्टसी के द्वारा चित्रण किया है। किस प्रकार के लोग सत्ता पर काबीज़ हो गए हैं उसका बड़ा ही व्यंग्यात्मक चित्र यहां प्रस्तुत हुआ है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि उपन्यासकार उपन्यास में उसके रूपबंध के अनुरूप भाषा का प्रयोग करता है।

(5) शैली की दृष्टि से भाषा का प्रयोग :

उपन्यासकार अपनी रचना को अधिक प्रभावी बनाने के उद्देश्य से नाना प्रकार की गद्य-शैलियों का प्रयोग करता है। वहां भाषा भी उन शैलियों के अनुरूप होती है। यद्यपि ऊपर औपन्यासिक रूपबंधों के संदर्भ में जो बातें कही गई हैं, उनमें यह मुद्दा भी आ ही जाता है, क्योंकि लेखक अपने औपन्यासिक रूपबधों के अनुसार ही विभिन्न शैलियों का प्रयोग करते हैं। तथापि कुछेक उदाहरणों द्वारा इसे स्पष्ट करने का प्रयास मैं करूंगी। शैलेश मटियानी के उपन्यास 'मुख सरोवर के हंस' में हमे कुमाऊं प्रदेश की 'लोककथा-शैली' मिलती है। कुमाऊं में लोककथा गायन की एक विशिष्ट परंपरा मिलती है। जैसे गुजरात में माणभट्टों की परंपरा है, बिलकुल वैसी। जैसी माणभट्ट 'माण' (मटकानुमा तांबे का जलपात्र) माण को तबले की तरह बजाते हुए कथा या आख्यान सुनाते है, ठीक उसी तरह कुमाऊं प्रवेश में रमौलिये 'दोपुड़िया हुड़के' पर थाप देते हुए कथा सुनाते हैं। उसकी एक विशिष्ट शैली होती है, यथा –

"एक नारी, एक तिरिया! शरीर रचना, सौन्दर्य-सौष्ठव एक्। श्रुति एक, वामी एक। एक माटी में पली ललियां, एक क्यारी में खिली कलियां। फिर भी दोनों

समान्तर रेखाएं। एक स्निग्ध-पारिवारिक वातावरण की अभिलाषिणी। बालक के नाम पर पहला दूध-कटोरा भरने, पितरों और इष्टों के नाम पर पहला दीपक जलाने और पति-परमेश्वर के नाम पहला फूल चढ़ानेवाली, कि माता की कोख, पिता का गोत्र और गांव के मुखिया का मुख उजागर करनेवाली ... और एक बावरी-बयार-सी, उन्मुक्त अभिसारिका, कि लटी में फुन्ना अपने यार के नाम का गूंथना, चोली में रंग अपने यार के नाम का भरना, माथे पर बिंदिया यार के पसंद की लगाना, कि माता की कोख काली, पिता का नाम बदनाम। गांव का मुखिया, पट्टी का पटवारी, देश का राजा बदनाम।"[73]

मटियानी के ही दूसरे उपन्यास 'बर्फ गिर चुकने के बाद' में लेखक ने एबसर्ड शैली का प्रयोग किया है। एक बानगी देखिए – "आप स्मरण रखें कि बिना प्रेम और भाषा के ही यात्रा पर निकल पड़ना गिदों की तरह पंख पसारकर उड़ान लगा आने के अलावा और कुछ नहीं। और जैसा कि मैं आप लोगों को पहले भी कह चुका हूं कि प्रेम यदि है – भाषा और कला की संभावनाओं के निकट ले जा सकने भर को पर्याप्त – तो सिर्फ़ वहां तक का चलना भी एक यात्रा हो जाएगा; जहां तक जा सकने की कल्पना मैं करना चाहता हूं। मैं कह नहीं सकता कि आप इस रहस्य को जानते हैं या नहीं कि कल्पना और प्रार्थना, इन्हें अगर आप सिर्फ अपने लिए करना चाहें, तो ये आपको कभी भी न तो भाषा के निकट ले जायेगे और न कला के। ... क्योंकि यह एक सनातन वास्तविकता है कि कल्पना और प्रार्थना प्रेम के निकट भी तभी ले जाती है, जब ये दूसरों के लिए की गई हों।"[74]

'काशी का अस्सी' में लेखक ने कई प्रकार की शैलियों का संयोजन किया है, उसमें एक पंडों-पुरोहितों वाली शैली भी है, यथा – "देखो तो क्या थे पांडेय धर्मनाथ शास्त्री? घाट की कमाई खानेवाले पंडा। घाट पर छतरी के नीचे शीशा, कंधी, चंदन, टिकुली, लुटिया में गंगाजल लेकर बैठनेवाले पांडेजी। पुरखों की विरासत में उन्हें दो चीजें मिली थीं – जजमानी में मिला दो कोठरी का मकान और घाट पर छतरी के नीचे पत्थर की पटिया। साथ में जीविकोपार्जन के लिए संकल्प कराने की विधि रटा गए थे – "ॐ विष्णोर्विष्णवो कलियुगे कलिप्रथमचरणे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे भारत वर्षे आर्यावर्तान्तर्गते काशीपुण्य क्षेत्रे केदारखंडे निकटे

विराजते जाह्नवीतटे मासानाम् मासे अमुक वासरे अमुक तिथो अमुक गोत्रौ अमुक नाम वर्माहम संकल्पं करिष्ये ' लेकिन घाट की आय कितनी, चवन्नी-अठन्नी जितनी, -- और वह भी अधिक से अधिक दस बजे तक जब तक स्नानार्थी आते हैं।"[75]

उपर्युक्त परिच्छेद में बीचवाला अंश जो संस्कृत में है, पुरोहित-शैली वाला है।

'मुझे चाँद चाहिए' नाटकीय कथावस्तु-संपन्न उपन्यास है, अतः उसमें संस्कृत-अंग्रेजी आदि के कई संदर्भ आते हैं। वर्षा बहावलपुर से लखनऊ अपनी इमोश्नल एंकर दिव्या कात्याल की शादी में आयी है। उस समय दिव्या की मां की जो भावस्थिति है उसका वर्णन लेखक ने इस प्रकार किया है –

"सप्तपदी के बीच वर्षा ने देखा, मम्मी की आंखें भर आयी हैं। यह कैसा रिश्ता है! अपनी गीली आंखें पोंछते हुए उसने सोचा, बेटी घर से जा रही है और मां की खुशी संभाले नहीं संभलती। दिव्या अब स्त्री है और स्त्रीत्व की पूर्णता के लिए उन्हें पुरुष चाहिए। मां ने अपनी पसंद का पुरुष बेटी के लिए जुटाया है। अब अपने जीवन का शेष मां इस संतोष से काट देगी कि बेटी का स्त्रीत्व सार्थक हो रहा है। (मैना को यह देखकर बड़ा संतोष हुआ कि शिव पार्वती के यौवन का पूरा उपभोग कर रहे हैं, क्योंकि जब मां यह देख लेती है कि मेरी कन्या का पति उसे प्यार करता है, तो उसका जी हल्का हो जाता है। (कुमारसभव की पंक्ति याद करते हुए वर्षा ने मन-ही-मन कहा, ' कविकुल-गुरु यहां आप शब्दों में कृपणता दिखा गए हैं। 'जी हल्का नहीं होता है', बल्कि मां तृप्ति से थरथरा जाती है, उसका जीवन धन्य हो जाता है! ... हाल में ही वर्षा ने एक उदीयमान नाटककार के पहले प्रयास में संशोधन किये थे, आज कालजयी कृति में दस्तंदाजी करते हुए उसे संकोच नहीं हुआ।)"[76]

'मुझे चाँद चाहिए' को आलोचकों ने संदर्भ-संपन्नता का उपन्यास कहा है। यहां दिव्या कात्याल की मां की भाव-स्थिति के ब्याज से वर्माजी ने कुमारसंभव के मेना-पार्वती प्रसंग की चर्चा करवा दी है।

'राग दरबारी' एक व्यंग्य उपन्यास है। अतः उसकी शैली में व्यंग्य-विदग्धता का होना स्वाभाविक ही नहीं लाज़मी भी है। छोटू पहलवान के पिता कुसहरप्रसाद अपने ही पुत्र के खिलाफ़ पंचायत बिठाते हैं। उसी संदर्भ में एक शब्द आता है – 'कौडिल्ला-छाप न्याय'। और वहीं से शुरू होती है 'कौडिल्ला-न्याय' की कथा, जो इस प्रकार है – "एक नवाब साहब थे। उनका एक शाहजादा था। शाहजादा बीमार पड गया। वैद्य, हकीम, डॉक्टर परेशान, हजारों रूपये नाले की राह बह गये। पर शाहजादा वैसा का वैसा। तब एक बूढ़ा हकीम आया। उसने बेगम से अकेले मे गुफ्तगू की और दरियाफ्त किया कि शाहजादा एक भिश्ती के नुत्फे से पैदा हुआ था। उसके बाद हकीम साहब ने शाहजादे की आंखों पर पानी का छींटा मारा और कहा, "अबे उठ, भिस्ती की औलाद!" आश्चर्य, शाहजादे ने आंखें खोल दीं। तब हकीम साहब ने कहीं से कौडिल्ला के पौधे मंगवाकर उसे पानी में पीसकर शाहजादे को पिला दिया और तीन दिन के भीतर ही शाहजादा ठीक हो गया। यह किस्सा प्रिंसिपल साहब वैद्यजी की बैठक में रंगनाथ को सुना रहे थे – "तो रंगनाथ बाबू, इसको कहते है कोडिल्ला-छाप न्याय। देहातियों को ऐसा ही समझा जाता है। ओछी नस्ल के आदमी। उन्हें और क्या चाहिए? चले जाओ पंचायत अदालत मे और कौड़िल्ला-छाप इंसाफ़ लेकर लौट आओ। डिस्ट्रीक्ट कोर्ट, हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट तो बड़े लोगों के लिए है जिसमें एक-एक वकील करने मे सौ-सौ रंडी पालने का खर्च होता है।"[77]

यहां व्यंग्य एक शब्द और कथा को लेकर शुरू होता है। उसे 'शब्द-सहचयन' या 'प्रसंग-सहचयन' शैली कहते हैं।

उपन्यास और यथार्थ :

उपन्यास और यथार्थ का बड़ा गहरा रिश्ता है। उपन्यास का कार्य बिना यथार्थ के नहीं हो सकता। यथार्थधर्मिता ही उपन्यास का प्राण है, यहां तक कि आदर्शवादी उपन्यासों में भी कथा की पृष्ठभूमि का निर्माण तो यथार्थ-स्थितियों के निरूपण से ही होता है। इधर डॉ. विभूतिनारायण राय का एक नया उपन्यास आया है – 'प्रेम की भूतकथा' – , इस उपन्यास के संदर्भ में डॉ. विजेन्द्र नारायण सिंह ने उसकी समीक्षा करते हुए लिखा है – " 'प्रेम की भूत कथा' एक उत्तर-

आधुनिक गल्प है जिसमें यथार्थवाद के रचनात्मक सिद्धान्त का अतिक्रमण ही नहीं वरन् पूर्ण तिरस्कार किया गया है।"[78] किन्तु हम डॉ. सिंह के अभिमत से सहमत नहीं है। उपन्यास में फैण्टसी का उपयोग किया है। उपन्यास एक सत्य, यथार्थ घटना पर आधारित है। सन् 1909 में मसूरी में एक हत्या हुई जिसमें एक अंग्रेज सैनिक कारपोरल एलन को परिस्थितिजन्य साक्ष्य (Circumstancial evidence) के आधार पर फांसी की सज़ा दी जाती है, इतना ही नहीं एलन हंसते-हंसते फांसी की टिकठी पर चढ़ जाता है, हालांकि वह बड़ी आसानी से अपनी 'Alibi' (अन्यत्र उपस्थिति) दे सकता था। पर वह देता नहीं क्योंकि ऐसा करने से उसकी प्रेमिका रिप्ले बीन रुशवा हो जाती जो उसे मंजूर नहीं था। इस हत्या में एलन की संलिप्तता के संदर्भ में भी मसूरी के तब के लोग संदिग्धावस्था में थे और बहुत-से लोग मानते थे कि एलन निर्दोष था। इस यथार्थ-कथा पर लेखक अपनी फैण्टसी खड़ी करता है जिसमें एक खोजी पत्रकार कई भूतों के माध्यम से एलन की निर्दोषता प्रमाणित करता है। इसमें रिप्ले बीन का भूत, फ्रांसीसी निकोलस का भूत जैसे कई भूतों से पाठक का साक्षात्कार होता है। यों विगत की यह रहस्य-कथा, मर्डर-गाथा, फैण्टसी के द्वारा बुनी गई है, पर यथार्थ से उसका कोई वास्ता नहीं है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता।

अभिप्राय यह कि बिल्कुल फैण्टसी-प्रधान, वायवी, काल्पनिक, अवैज्ञानिक तथ्यो के निरूपण के मूल में तो यथार्थ-कथा ही है।

उपन्यास की अधिकांश परिभाषाओं में भी यथार्थ पर विशेष तवज्जो दी जाती है। केवल जैनेन्द्र को छोड़कर शेष अनेक लेखक व आलोचक यथार्थ को उपन्यास के लिए आवश्यक मानते हैं।[79] यथार्थ की पहचान वस्तुतः साहित्यिक उपन्यास की पहचान है। डॉ. देवीशंकर अवस्थी ने आधुनिक साहित्य पर एक ग्रन्थ संपादित किया है – 'विवेक के रंग' – उस ग्रन्थ में उपन्यास विभाग को 'यथार्थ की पहचान' शीर्षक दिया है।[80]

परन्तु 'यथार्थवाद' को सीमित और संकुचित अर्थ में नहीं लेना चाहिए। यथार्थ से तात्पर्य यह होना चाहिए कि कथावस्तु, पात्र, समाज, कथोपकथन,

भाषा आदि सभी क्षेत्रों में यथार्थ का ध्यान रखना चाहिए। इस संदर्भ में अज्ञेयजी की निम्नलिखित टिप्पणी गौरतलब है :

"यथार्थवाद के नाम पर प्रगतिवादी आंदोलन ने जहां साहित्यकार की दृष्टि को एक नयी दिशा में मोड़ा है, वहां एक दूसरे परिदृश्य से उसे हटा भी दिया है। सामंतकालीन साहित्य में अगर उच्च वर्ग के पात्रों का ही यथार्थ वर्णन होता था और इतर लोग केवल परिपाटी के ढांचे में ली हुई छायाएं मात्र थे, तो आज की साहित्य-दृष्टि भी कम संकुचित नहीं है। उसने भुलुआ धोबी और मनुआ चमार को व्यक्ति-चरित्र देकर भद्र और उच्चवर्गीय व्यक्तियों को पुतले बना दिया है।"[81]

उपन्यास के संदर्भ में हम जिस यथार्थवाद की बात करते हैं, वहां हमारा अभिप्राय यह है कि उपन्यासकार जिस वस्तु को लेकर लिखता है, उसके अनुरुप ही उसके पात्र, उनका व्यवहार, उनके विचार, उनकी भाषा आदि होने चाहिए। अतः उपन्यासकार को चाहिए कि समाज की समग्रता को प्रस्तुत करने के लिए वह सभी प्रकार के पात्रों के साथ न्याय करें। वह यदि भुलुआ धोबी और मनुआ चमार का चित्रण करता है, तो आवश्यकतानुसार उसे उच्च एवं भद्र वर्ग के पात्रों का भी चित्रण करना चाहिए और वह चित्रण यथार्थ ढंग से होना चाहिए। 'गोदान' में मुंशी प्रेमचंद ने जहां होरी, धनिया और गोबर जैसे ग्रामीण मेहनतकश वर्ग के पात्रो को लिया है, वहा रायसाहब, मेहता और मालती जैसे उच्च-वर्गीय पात्रों को भी लिया है और बदलते वक्त मे जमीदारों के व्यवहार मे जो अंतर आया है उसे भी उन्होंने रेखांकित किया है। इस संदर्भ में डॉ. पारूकान्त देसाई ने 'गोदान' की समीक्षा करते हुए लिखा है – "प्रेमचंदजी की दीर्घदृष्टि ने सुदूर भविष्य की कल्पना कदाचित कर ली थी, अतः गोदान में शोषकों का एक नया रूप मिलता है। भेड़िये यहां मेमने बनकर आये हैं। उन्होंने देशभक्ति का मुखौटा पहन लिया है। जमींदार रायसाहब अमरपालसिंह आंदोलन में जेल भी हो आये हैं, दूसरी ओर अंग्रेजों के कृपाकांक्षी भी हैं और किसानों को भी चूस रहे हैं, पर एक नयं अंदाज में।"[82]

'गोदान' के प्रोफेसर मेहता मार्क्सवादी विचारधारा के हैं, वह जमींदार साहब के इस दोगले चरित्र का पर्दाफाश करते हैं – "माना कि आपका अपने असामियों के साथ बहुत अच्छा बर्ताव है, मगर प्रश्न यह है कि उसमें आपका

स्वार्थ है या नहीं। इसका एक कारण क्या यह नहीं कि मद्धिम आंच में भोजन स्वादिष्ट पकता है। गुड़ से मारने वाला जहर से मारने वाले की अपेक्षा कहीं अधिक सफल हो सकता है।"[83]

अभिप्राय यह कि उपन्यास में लेखक यथार्थ को लेकर चलता है, या उसे चलना चाहिए। प्रेमचंदजी प्रारंभ में थोड़े आदर्शवादी थे, परंतु बाद में वह क्रमशः यथार्थवाद की और गये हैं। यहां आदर्शवाद और यथार्थवाद की बात हम उपन्यास की रचना-परिणिती के संदर्भ में कर रहे थे, अन्यथा व्यक्ति प्रेमचंद तो सदैव आदर्शवादी ही रहे। अपने सिद्धान्तों के साथ उन्होंने कभी जौभर भी समझौता नहीं किया है।

यथार्थ और उपन्यास की भाषा :

वैसे तो उपन्यास के सभी अंगों और तत्वों में यथार्थ होना चाहिए, परंतु यहां हम उपन्यास की भाषा की यथार्थता को ही रेखांकित कर रहे हैं, क्योंकि हमारे शोध-प्रबंध का सम्बन्ध भाषिक-संरचना से है। उपन्यास की भाषा यथार्थ होनी चाहिए। राल्फ फोक्स उसे ही मानव-जीवन का गद्य कहते हैं।[84] 'मानव-जीवन का गद्य' से उनका अभिप्राय पात्रों की भाषा से है। उन्होंने औपन्यासिक पात्रों के लिए भी 'पिपल' शब्द का ही प्रयोग किया है। 'पिपल' अर्थात् लोग और ध्यान रहे 'लोग' कभी भी शुद्ध भाषा या मानक-भाषा का प्रयोग नही करते। लोगों द्वारा प्रयुक्त भाषा हमेशा बोलचाल की भाषा ही होती है, जिसे भाषा न कहकर 'बोली' कहना कदाचित अधिक उचित होगा। मानक गद्य का प्रयोग लेखक, उपन्यास लेखक, लेखकीय टिप्पण, विश्लेषण, विवरण, वर्णन, चिंतन आदि में करता है; अन्यथा पात्रों के कथोपकथन आदि में जो भाषा प्रयुक्त होती है, वह पात्रों की भाषा होती है। पाश्चात्य औपन्यासिक आलोचक ईरा वाल्फर्ट ने इस संदर्भ में कहा है – "Language of human life being lived"[85] अर्थात् उपन्यास में प्रयुक्त भाषा मानव-जीवन की सक्रिय भाषा, दूसरे शब्दों में मनुष्य की जीवंत भाषा होती है और जीवंत भाषा में हमेशा "Spoken Language" का पुट ही ज्यादा होता है। इसे हम परिवेश की भाषा भी कह सकते हैं। डॉ. गोविन्द मिश्र

ने 'लेखक की जमीन' नामक किताब में भाषा के संदर्भ में कबीर-रेणु का हवाला देते हुए जो कहा है, वह भी यहां ध्यातव्य हो सकता है –

"में जो परिवेश उठाता हूं, उसमें अपनी भाषा ले जाने के बजाय वहां की भाषा ढूंढता हूं।... तो खुद को मैं खुला रखना चाहता हूं कि भाषा भी जमीन की आये, उसी जमीन से ताल्लुक है रेणु-कबीर का।... कबीर का फक्कडपन हिन्दुस्तान का फक्कड़पन है। इसलिए कबीर की चीजों में भले ही तुलसीदास की अंतरंगता न मिले, भले ही आपको ज्ञान की बाते न मिलें, लेकिन उबड़खाबड़ ढंग से छोटी-छोटी बातों में, झटके में बहुत-सी बातें कह दी गई हैं। बिना परवाह किए क्या कहा है, क्या हुआ है। यह आम हिन्दुस्तान की चीज है, जहां एक साधारण आदमी भी मामूली ढंग से बड़ी-बड़ी बातें कह जाता है। उसे पता भी नहीं होता। यह जो भारतीय तत्व है, वह मुझे दूसरे लेखकों में कम मिलता है। रेणुजी से तो आज तक ईर्ष्या करता हूं कि मैं उस हद तक सरोबार नहीं हो पाया।"[86]

मिश्रजी की उक्त बात में मैं मटियानीजी का नाम भी जोड़ना चाहती हूं। जिस सरोबारी-सरोकार की मिश्रजी बात करते हैं, वह हमें मटियानीजी में भी पूरी तरह मिलता है। कुमाऊं की धरती यहां रह-रहकर पुकारती है। मटियानी के 'हौलादार' उपन्यास के हरकसिंह कुमाऊं के लोकदेवता सेमराजा का डंगरिया है। सिर को उठाकर जब सेमराजा प्रस्थान करते है तब उसका देवदासा उदेराम 'कैलाशप्रस्थानी' अवसाण (छद) गाते हुए कहता है – "हेर, बेला हुई अबेर, मेरे देवता, महादेवता, पद्मासनी सेमराजा।... नरलोक मे अवतार लिया, धरती धरमराज को धन्य-धन्य कर गया। गोठ की गैया, गोदी के बालक , धरतीमैया को कल्याणमुखी हो गया।... नाचा कूदा... नर वानरों को मंगलमुखी हो गया... हे मेरे आसनधारी देवता। अस्तमुखी कैलाशवासी हो जा... कि चन्द्रमुखी रात्री बेला में... अपनी अवतार गाथा। के अंतिम अक्षत आखरों में लगती समाधि, मुदती पलकों में स्थान देकर सबको दाहिना हो जा मेरे स्वामी।"[87] ऐसे अलग-अलग देवताओं के अवषाण के छद भी अलग-अलग होते हैं। यहां हमें कुमाऊं की धरतीमैया की खुशबू महसूस होती है।

और भी कई उदाहरण दिए जा सकते हैं, लेकिन मुझे लगता है कि कुछ उदाहरण यहां में अपने आलोच्य उपन्यासों से प्रस्तुत करूं। 'राग दरबारी' उपन्यास एक व्यंग्यात्मक उपन्यास है। उसमें शिवपालगंज की बोली-बानी का प्रयोग हुआ है। गांव के लोगों में कई बार किसी एक शब्द-विशेष का प्रचलन चल पड़ता है। जिन दिनों की बात उपन्यास में उठाई गई है उन दिनों शिवपालगंज में 'इंसानियत' शब्द का धड़ल्ले से प्रयोग होता था। रंगनाथ और बद्री पहलवान में बात चल रही है – "रंगनाथ ने अपनी बात खत्म करते हुए कहा, 'पता नहीं चला कि प्रिंसिपल और खन्ना में क्या बात हुई। ड्रील मास्टर बाहर खड़ाथा। खन्ना मास्टर ने चीखकर कहा, 'आपकी यही इंसानियत है।' वह सिर्फ इतना ही सुन पाया। बद्री ने जम्हाई लेते हुए कहा, 'प्रिंसिपल ने गाली दी होगी। उसीके जवाब में खन्ना ने इंसानियत की बात कही होगी। यह खन्ना इसी तरह बात करता है। साला बांगडू है। 'बात ठीक थी। शिवपालगंज में इन दिनों इंसानियत का बोलबाला था। लौंड़े दोपहर में घनी अमराइयों में जुआ खेलते थे। जीतने वाले जीतते थे, हारने वाले कहते थे, "यही तुम्हारी इंसानियन है? जीतते ही तुम्हारा पेशाब उतर आता है। टरकने का बहाना ढूंढने लगते हो।" कभी-कभी जीतने वाला भी इंसानियत का प्रयोग करता था। वह कहता, "क्या इसीका नाम इंसानियत है? एक दाव हारने मे ही पिलपिला गए। यहां चार दिन बाद हमारा एक दांव लगा तो उसीमें हमारा पेशाब बन्द कर दोगे?" ताड़ीघर में मजदूर लोग सर को दांये-बांये हिलाते रहते। 1962 में भारत को चीन के विश्वासघात से जितना सदमा पहुंचा था, उसी तरह के सदमों का दृश्य पेश करते हुए वे कहते, "बुधुवा ने पक्का मकान बनवा डाला। कारखाने वालों के ठाठ है। हमने कहा, पाहुने आए हैं। ताड़ी के लिए दो रूपये निकाल दो, तो सीधे बात नहीं की, पिछल्ला दिखा के चला गया। बताओ नगेसर, क्या यही इंसानियत है?' यानी इंसानियत का प्रयोग शिवपालगंज में उसी तरह चुस्ती और चालाकी का लक्षण माना जाता था जिस तरह राजनीति में नैतिकता का।"[88]

यहां पर 'बांगडू', 'लौंड़े', 'पेशाब उतरना', 'पेशाब बन्द करवा देना', 'पिलपिला जाना', 'पाहुने', पिछल्ला दिखाना' जैसे शब्दों का प्रयोग उपन्यास की

यथार्थ भाषा पर चार चाँद लगा देते हैं। कालेज का 'छंगामल' नामकरण भी इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। शब्दों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं – टिप्पस, चिड़िमार, बांगडू, कुकरहाव, बंदरहाव, पैंकरमा, घरघूस्सू, गबडू-घुसडू, बौडम, टिचन्न, गिचिर-पिचिर, लौंड़े-लफाड़ी, स्टीकें (स्टीक का बहुवचन),' टिरैल (ट्रायल), फल्लास आदि।

ऐसा ही एक उपन्यास 'काशी का अस्सी' है। उपन्यास के प्रारंभ में ही स्पष्ट कर दिया गया है कि "मित्रो, यह संस्मरण वयस्कों के लिए है, बच्चों और बूढ़ों के लिए नहीं; और उनके लिए भी नहीं जो यह नहीं जानते कि अस्सी और भाषा के बीच ननद-भौजाई और साली-बहनोई का रिश्ता है। जो भाषा में गन्दगी, गाली, अश्लीलता और जाने क्या-क्या देखते हैं और जिन्हें हमारे मुहल्ले के भाषाविद् 'परम' (चूतिया का पर्याय) कहते हैं, वे भी कृपया इसे पढ़कर अपना दिल न दुखाएं – तो, सबसे पहले इस मुहल्ले का मुख्तसर-सा बायोडेटा – कमर में गमछा, कन्धे पर लंगोट और बदन पर जनेऊ – यह 'यूनिफोर्म है अस्सी का!।। हालांकि बम्बई-दिल्ली के चलते कपड़े-लत्ते की दुनिया में काफ़ी प्रदूषण आ गया है। पैंट-शर्ट, जीन्स, सफारी और भी जाने कैसी-कैसी हाई-फाई पोशाकें पहनने लगे हैं लोग! लेकिन तब, जब कहीं नौकरी या जजमानी पर मुहल्ले के बाहर जाना हो! वरना प्रदूषण ने जनेऊ या लंगोट का चाहे जो बिगाड़ा हो गमछा अपनी जगह अडिग है!"89 तो 'अस्सी' का अपना 'शब्द-कल्पदूम' है। इसके पास और कुछ नहीं, शब्दों की ही खेती है – "आज से पचास साल पहले अपने 'फार्म हाउस' में उसने दो शब्द उगाए थे – 'व्यवस्था' और 'कार्यक्रम'। कार्यक्रम उसे अपने काम का नहीं लगा। कार्यक्रम माने दारू। बोतल खोलिए, गिलास में ढालिए, चुस्की मारिए! कार्यक्रम चलाइए – देश को अस्थिर, अव्यवस्थित और तबाह कीजिए। अगर मुल्क को व्यवस्थित और स्थिर रखना हो, तबाही और बर्बादी से बचाना ह तो भाँग लीजिए! भाँग, दारू की तरह कोई तैयार माल नहीं है कि खोली, ढाला और पिया। व्यवस्था करनी पड़ती है इसकी! भिंगोने-धोने की, छानने-घोटने की, सिल-बट्टे की। घण्टों लगते हैं। इसलिए व्यवस्था माने भाँग! भाँग के लिए समय

और इत्मीनान चाहिए। कार्यक्रम उनकी लिए जिनके पास सम्य नहीं है, पादने तक की फुर्सत नहीं है।"[90]

ऐसे तो कई शब्द बनते ही रहते हैं 'अस्सी' के फार्म-हाउस में। 'गंडौउ गदर' भी ऐसा ही एक शब्द है, जिसे लोग 'सिम्पोजियम' 'सेमिनार', 'परिसंवाद', 'संगोष्ठी' आदि कहते हैं। इसमें बड़े-बड़े विद्वान जुटते हैं, गरमागरम बहस करते हैं – 'हेन होना चाहिए, तेन होना चाहिए' और फिर खा-पीकर अपने-अपने घर प्रस्थान कर जाते हैं। "यह होता है 'गंडऊ गदर' यानी गंडुओं या गेंडुओं की क्रान्ति। नतीजा टांय-टांय फिस्स!"[91]

एक आम अस्सीवासी कैसा होता है। यहां तो अस्सी किसी भी वी.आई.पी. को पी.आई.जी. (पिग=सूअर) के बराबर भी नहीं समझता। वह समूचे त्रिकाल और त्रैलोक्य को अपने फोद पर लिये घूमता रहता है। "मतलब यह कि इस पान की दुकान से उस पान की दुकान, उस पान की दुकान से इस पान की दुकान, इस चाय की दुकान से फिर उस चाय की दुकान, फिर उस चाय की दुकान, फिर इस चाय की दुकान... कभी बैठे हैं, कभी खड़े हैं, कभी खड़े हैं तो खड़े हैं, बैठे हैं तो बैठे हैं, चल रह हैं तो चल रहे हैं और चलते हुए वहीं पहुंचे हैं जहां से चले थे, कभी बिना चले हुए वहीं खड़े हैं जहां बैठे थे। यही दिनचर्या है गंडऊ गदर पार्टी के इंकलाबियों या गदरहों की! चौराहे का एक फलांग का रकबा इनका ब्रह्मांड है और पप्पू की चाय की दुकान धुरी। वही इनका ससदभवन भी है, अशोक हाल भी, त्रिवेणी कला संगम भी, बोट क्लब भी और सेमिनार हाल भी!"[92]

लेखक की व्यंग्यात्मक शैली किसीको नहीं बख्शती है। देवी-देवताओं और ऋषि-मुनियों तक की खबर ले लेते हैं और जिन्होंने पुराणविद्या (Mythology) को पढ़ रखा है, वे उसका विरोध भी नहीं कर सकते। काशीनाथ सिंह बात बत्तीस तोला पांव-रत्ती करते हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

"और घने जंगल और बियाबान में अकेले तपस्या कर रहे ये ऋषि-मुनि खुद क्या थे? आदिवासी, टोना-टोटकावाले। खुद क्या थे? नारद को देखो तो दासी पुत्र, वसिष्ठ को देखो तो वेश्यापुत्र। कोई घड़े में पाया गया तो कोई जंगल में, कोई नदी में कोई खेत में? जाने कितने तो किसी-न-किसी अप्सरा के, जो जिसे

मिला, वह उसीका बेटा। टोना-टोटका, कर्मकांड, यही इनकी आजीविका थी। ज्ञानकांड इन सबों के बस के बाहर का था। याज्ञवल्क्य तक को उसके लिए दौड़ना पड़ता था जनक के पास। सबके सब जारज और यही '...सड़ीके' के वर्ण-व्यवस्था देते हैं। देखो तो सभी जातियों के गोत्र ब्राह्मण-ऋषियों के नाम पर। जब सभी के पुरखे तुम्ही हो तो उन्हें जातियों में क्यों बांटते हो?... इन्ही बामनों ने सभी क्षत्रियों के हाथो में तलवार पकडा दी, धनुष-बाण थमा दिया कि जाओ बेटा, तुम्हारा काम युद्ध करना है। तुम्हारे लिए बेटे पैदा करना हमारा काम है, तुम बाहर देखो, हम अन्दर देख रहे हैं!"[93]

यहां तक कि कहावतें भी उसी प्रकार की हैं – "जो पठितव्यम् तो मरितव्यम्, न पठितव्यम् तो मरितव्यम्, फिर दांत कटाकट क्यों करितव्यम्?", उधर मंदिर, इधर गंगा; और घर में सिलबट्टा!", "काहे की है है और काहे की खट्-खट्!", "आन का आटा, आन का घी, भोग लगावै बाबाजी", "जब सौ रचनाकार मरते हैं तब एक आलोचक पैदा होता है", "ठाकुर बुद्धि यादव बल, झण्डू हो गया जनता दल", "सिद्धान्त सोने का गहना है, रोज-रोज पहनने की चीज नहीं", "भाई, भतीजा, भानजा, भांड, भूत, भूंडहार; ए छहो भकार से सदा रहो हुशियार", "काम करो बनिए का मजे ल्यौ दुनिए का", "भाग्य गदहे के फोद से लिखा गया हो तो हवन-पूजन क्या कर सकते हैं?", "जहां गई डाढो रानी, वहा पडे पाथर-पानी", "जो अहिर समझावै, ऊ बावन वीर कहावै", "मास्टर की सुबह और रंडी की शाम नहीं खराब करनी चाहिए", "सन्तो, जहा पानी वहा प्रानी और जहा घाट, वहीं हाट", "महिला है तो कपार पर बैठकर मूतेगी", "बाभनों मे तिवारी, ऊँट की सवारी, मयभा महतारी, हैजा की बीमारी, लालाओं में पटवारी, कोंहड़ा की तरकारी औ अमरीकन नारी इनका कोई भरोसा नहीं। "द्वीपों में द्वीप जम्बूद्वीप", "ड्राइवर की जिन्दगी हंसी और खेल है, मौत से बचा तो सेंट्रल जेल है" आदि-आदि।[94]

अब एक नजर उसमें प्रयुक्त शब्दों पर – दिव्य निबटान, बहरी अलंग (गंगा पार जाना), अस्सी के चुड़क्क, पिड़काह (चिढ़चिढ़े), कवि-पालनकेन्द्र, कंडालन पान, खंचियन रसगुल्ला, झउवन पान, टनन समोसा, बनिहार, पसेरी

लुढ़काना, अस्सी का फेनामना, पिड़कना, भंगाचार्य, भैस चंसलर, लुलुआना, खिलाना, पंवारा, भजपैसा ...सड़ी के, बमपुलिस, बबाइन, पड़ाइन, लंडबहेर लेखक, इश्डूंटो, गंडऊ गदर (सेमिनार), अनभल (अनभला), कब्जिया लेना, मालिशिए, फिलासफी पेलना, किचाइन करना, अचारिन (आचार्य-पत्नी), कौन ठगवा नगरिया लूटल हो, बाउर भइलैं हंस, निछद्दम (सन्नाटा), आदि-आदि शब्द औपन्यासिक यथार्थ के प्रमाण है।[95]

अब एक दो उदाहरण 'मुझे चाँद चाहिए' से भी प्रस्तुत कर रहे हैं – "उसने अभी-अभी दिव्या के नाम का पत्र डाक में छोड़ा था, 'हर्ष ने पहली बार मेरा चुंबन इण्डिया गेट की छाया में शास्त्री भवन के पीछे लिया था। वह मोतीलाल नेहरू मार्ग पर रहता है। जैसे मेरे भावात्मक इतिहास में स्वतंत्रता-आंदोलन के शलाका पुरूषों का इतना जुड़ना काफी नहीं था। निष्ठुर ने रति-रंग के लिए अपना घर और वह राष्ट्रीय पर्व चुना, जब भारतीय गणतंत्र का संविधान लागू हुआ था। जब राजपथ पर तोपें राष्ट्रपति को सलामी दे रही थीं, तो हठी प्रेमी मेरे कामकलश पर नखरेखा अंकित कर रहा था।"[96]

यहां पर वर्षा वसिष्ठ एन.एस.डी. की छात्रा है और हर्ष उसका सीनियर। पत्र वह दिव्या कात्याल को लिखती है जो वर्षा का 'रोल मोडल' है। अतः भाषा भी पात्र और प्रसंग के अनुरूप है।

तीन साल के बाद वर्षा वसिष्ठ उर्फ सिलबिल जब सुलतानगंज (शाहजहांपुर) आती है, तब उसे देखने आये मि. भार्गव रुआब झाड़ने के उद्देश्य से वर्षा से अंग्रेजी में पूछते हैं – "आई हेव बीन ए स्टूडेंट आफ लिटरेचर। आइ नो आलमोस्ट आल द प्लेज़ रेकर्ड इन दैट आर्टिकल एक्सैप्ट" अवर ओन हैल्स"... व्हाट दिस प्ले इज़ एबाउट एण्ड हाउ डिड यू लाईक वर्किंग इन इट?"[97] वर्षा उसके उत्तर में कहती है – 'इट्स ए न्यू प्ले वैरी रीसेंटली ब्रोट आउट बाइ ए न्यूयोर्क पब्लिशिंग हाउस। टू द बेस्ट आफ माय नोलेज, अवर्स वाज़ द फर्स्ट प्रोडक्शन इन एशिया। इट्स ए वैरी सेंसेटिव, पैसिव डिसैक्शन आफ इंडवीडुएल फ्रिडम वर्सेज़ स्टेट स्ट्रांगहोल्ड्। इट वैरी ब्यूटीफुली पार्टेज़ द रिलेशनशीप बिटवीन ए हसबेंड एण्ड वाइफ इन ए क्लोज्ड सोसायटी एण्ड टु व्हाट एक्सटेंट द

सिस्टम कैन डैमेज़ एन इंड्वीडुअल्। आइ डिड द हीरोइन शान्या। इट वाज़ आ वैरी सेंसेटीव, वैरी टैण्डर केरेक्टर, आल्वेज़ आन द एज एण्ड ग्रेज्युएली फाल्स एपार्ट। आइ विल आल्वेज़ रिमैम्बर शान्या, बिकाज़ इट्स शी हू गेव मी माय फर्स्ट वैलिड आइडेंटिटी एज़ एन एक्ट्रेस इन न्यू डैल्ही, व्हेन आइ मायसेल्फ वाज़ फालिंग एवार्ट..."[98]

वर्षा वसिष्ठ उर्फ सिलबिल की यह फर्राटेदार अंग्रेजी यहां अवास्तविक नहीं है। उसने एन.एस.डी., में तीन साल में अंग्रेजी पर प्रभुत्व पा लिया है, क्योंकि वहरं हिन्दी-उर्दू-अंग्रेजी सभी में प्ले होते हैं, अतः एन.एस.डी. में वही टिक सकता है जो अच्छी अंग्रेजी बोल लेता हो। वर्षा की अंग्रेजी सुनकर मि. भार्गव उसे फिर अंग्रेजी में पुछने का साहस सुनकर नहीं कर पाते। वर्षा के पिता शर्माजी वर्षा की अंग्रेजी सुनकर मन में कहते हैं – "वंश की सात पीढ़ियों में कोई स्त्री पहली बार अंग्रेजी बोल रही है और वह भी ऐसे असरदार ढंग से।"[99]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि उपन्यास यथार्थ की विधा है और यथार्थ का निर्माण भी यथार्थ भाषा या बोली से ही होता है।

भाषिक-संरचना से तात्पर्य :

हमारे शोध-प्रबंध का सीधा सम्बन्ध 'भाषिक-संरचना' से है। इसमें हमने हिन्दी उपन्यास-साहित्य के तीन बहुचर्चित उपन्यासों -- राग दरबारी (श्रीलाल शुक्ल), मुझे चॉद चाहिए (सुरेन्द्र वर्मा) तथा काशी का अस्सी (काशीनाथ सिंह) – की 'भाषिक-संरचना' की दृष्टि से शोधपरक एवं विश्लेषणात्मक पड़ताल की है।

उपन्यास गद्य की विधा है। अतः उसका सीधा सम्बन्ध गद्य-भाषा से है। पूर्ववर्ती पृष्ठों में निर्दिष्ट किया गया है कि उपन्यास की यह गद्यभाषा जीवंत होती है। उसका सीधा सरोकार 'बोलचाल की गद्यभाषा' (Spoken Language) से होता है। समसामयिक सामाजिक उपन्यासों में उस बोलचाल की भाषा का प्रभुत्व रहता है। समाजवादी, आंचलिक व मनोवैज्ञानिक उपन्यास भी इसीमें आ जाते हैं। आंचलिक एवं व्यंग्य-उपन्यासों में तो यह बात और भी सिद्दत से लागू होती है। ऐतिहासिक एवं पौराणिक उपन्यासों में कालगत-परिवेश की दृष्टि से भाषा का प्रयोग होता है। अन्य (अर्थात् ऐतिहासिक एवं पौराणिक के अतिरिक्त) उपन्यासों में

'देशगत-परिवेश' की दृष्टि से भाषा का प्रयोग लाजमी हो जाता है। यहां भाषा भी 'लोकल-कलर्स' लेकर अवतरित होती है।

'भाषिक-संरचना' से हमारा तात्पर्य उपन्यास में प्रयुक्त भाषा के शोधपरक विश्लेषण एवं अनुशीलन से है। इसमें हम यह देखेंगे कि चरित्र-सृष्टि में तथा वातावरण या देशकाल के निर्माण मे भाषा का क्या योग रहा है। उपन्यास यदि ग्रामभित्तीय या आंचलिक है तो उसमें उस अंचल के शब्द किस तरह आये हैं, अन्य प्रकार की भाषा के शब्दों से ये शब्द किस तरह अलग है, किस तरह उस स्थान (देश-अंचल) की अलग पहचान बनाते हैं, जैसे मुद्दों की चर्चा यहां अपेक्षित है। उसमें किस तरह के शब्द आये हैं, हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी या उर्दू के शब्द कितने हैं और भाषागत यथार्थ की दृष्टि से उनकी क्या अहमियत है। वाक्य-विचार और प्रोक्ति-विचार की दृष्टि से भी भाषा का अध्ययन होगा। नवीन भाषाभिव्यंजना – नवीन शब्द, नवीन विशेषण, नवीन क्रियाएं, नये उपमान व रूपक, नवीन कहावतों और मुहावरों का प्रयोग, शब्द-सहचयन (Word-Association) और प्रसंग-सहचयन (Eventual-Association) से सम्बन्ध शब्दो पर भी यहाँ विचार होगा। संदर्भ-संपन्नता, उदरण, सूक्तियो, गाली-प्रयोग जैसे मुद्दों की भी यहां सोदाहरण चर्चा अपेक्षित रहेगी।

संक्षेप में आलोच्य तीनों उपन्यासो का अनुशीलन भाषा के उपर्युक्त मुद्दों या अभिलक्षणो को केन्द्र में रखते हुए किया जायेगा। इन तीनो उपन्यासो मे भाषा की लाक्षणिकता, सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता को भी देखा-परखा जायेगा। इनके लेखको ने भाषा से कितना और कैसा काम लिया है और उसमे औपन्यासिक यथार्थता को उकेरने में किस सीमा तक सफल रहे हैं, यह भी एक निकष रहेगा।

निष्कर्ष :

अध्याय के समग्रावलोकन की प्रक्रिया द्वारा हम असंदिग्धतया निम्नलिखित निष्कर्ष तक पहुंच सकते हैं –

(1) हिन्दी में उपन्यास का आविर्भाव उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। प्रारंभिक उपन्यास स्थूल कथावस्तुप्रधान, मनोरंजनप्रधान, अपरिपक्व

तथा औपन्यासिक कलात्मकता की दृष्टि से कुछ कमजोर प्रतीत होते हैं। हिन्दी उपन्यास को उसका गौरवपूर्ण स्थान मुंशी प्रेमचंद ने दिलाया। अतः हिन्दी उपन्यास के विकास सोपानों के निरूपण में प्रेमचंद को केन्द्रस्थ रखा गया है – पूर्व-प्रेमचन्दकाल, प्रेमचंदकाल और प्रेमचन्दोत्तर काल। 'परीक्षागुरु' या 'भाग्यवती' के उपरान्त आज हिन्दी उपन्यासने काफी विकास कर लिया है। किन्तु इस संदर्भ में अज्ञेयजी की यह टिप्पणी अत्यन्त विचारणीय है – "हमने आख्यान साहित्य को प्रेमचंदजी से आगे बढ़ाया है, लेकिन केवल 'टेकनिक' की दिशा में, साहित्यकार की संवेदना को, उनकी मानवीय चेतना को, हमने अधिक विकसित या प्रसारित नहीं किया है।" प्रेमचन्दोत्तर काल में अनेक औपन्यासिक प्रवृत्तियों का विकास हुआ है और हो रहा है, किन्तु मानवीय संवेदना की दृष्टि से अभी हम आगे नहीं है।

(2) भाषा मनुष्य के उच्चारण अवयवों से उच्चरित ध्वनि-प्रतीकों की यादृच्छिक व्यवस्था है जिसमें एक समाज-विशेष के लोग भावों और विचारों का आदान-प्रदान करते हैं।

(3) उपन्यास की भाषा गद्यभाषा है। वह मानव-जीवन का गद्य है। उपन्यास में भाषा के मुख्यतया दो रूप मिलते हैं – लेखकीय भाषा और पात्रों की या लोगों की भाषा। वर्णन, विवरण, विश्लेषण इत्यादि में लेखकीय भाषा या मानक भाषा (Standard Language) का प्रयोग होता है, अन्यत्र बोलचाल की भाषा को प्रयोग में लाया जाता है। राल्फ फोक्स, ईरा वाल्फर्ट और ई.एम. फारर्स्टर इसे ही जीवंत भाषा या लोगों की भाषा कहते हैं।

(4) हिन्दी की आधुनिक खड़ीबोली का विकास रामप्रसाद निरंजनी से होते हुए लल्लूलाल गुजराती, मुंशी सदा-सुखलाल, पंडित सदल मिश्र, मुंशी इंशाअल्लाखां, राजा लक्ष्मण-सिंह, राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द, दयानंद सरस्वती, भारतेन्दु, पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी से होते हुए इस मकाम तक पहुंचा है। अब यह गद्य वर्णन, विवरण, विश्लेषण, तर्क-वितर्क, विमर्श के लिए सक्षम हो चुका है। हिन्दी गद्य के विकास के साथ ही उपन्यास का भी विकास हुआ है।

(5) उपन्यास की गद्यभाषा के विभिन्न स्तर होते हैं औपन्यासिक रूपबंध के अनुसार भाषा का रूप भी बदल जाता है।

(6) उपन्यास की अधिकांश परिभाषाएं इस तथ्य का द्योतन करती हैं कि उपन्यास यथार्थ की विधा है और इस यथार्थ का भाषा से भी गहरा रिश्ता है। वस्तुतः उपन्यास में यथार्थ वाले जो तत्व हैं उनमें भाषा का तत्व सर्वाधिक बलवत्तर है।

(7) हमारे आलोच्य तीनों उपन्यासों मे उनके रूपबंध के अनुसार भाषा का प्रयोग हुआ है।

(8) भाषिक-संरचना के अंतर्गत हमे औपन्यासिक भाषा की वेशेषताओं को उकेरने का यत्न करेंगे।

:: संदर्भानुक्रम ::

1. द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डॉ. भारतभूषण अग्रवाल : पृ. 26 ।
2. द्रष्टव्य : वही : पृ. 26 ।
3. द्रष्टव्य : हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृ. 434 ।
4. द्रष्टव्य : हंस – फरवरी – 2010 : पृ. 84 ।
5. द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास परंपरा में साठोत्तरी उपन्यास : डॉ. पारूकान्त देसाई : पृ. 64-71 ।
6. द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ. 24 ।
7. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डॉ. एस. एन. गणेशन : पृ. 58 ।
8. प्रेमचंद और उनका युग : डॉ. रामविलास शर्मा : पृ. 31 ।
9. प्रेमचंद और गोर्की : सम्पादक - डॉ. शचिरानी गुर्टू ।
10. हंस-फरवरी – 2010 : पृ. 3 ।
11. द्रष्टव्य : हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त सुगम इतिहास : डॉ. पारूकान्त देसाई : पृ. 61 ।
12. द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास-परंपरा में साठोत्तरी उपन्यास : पृ. 95-100 ।
13. हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ. 106 ।
14. कलम का मजदूर : मदनगोपाल : पृ. 309 ।
15. द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास-परंपरा में साठोत्तरी उपन्यास : पृ. 479-487 ।
16. वही : पृ. 479-494 ।
17. वही : पृ. 150 ।
18. विवेक के रंग : सं. डॉ. देवीशंकर अवस्थी : पृ. 217 ।
19. Kamaleshwar : Seminar on creative writing in Indian languages (1972) : P. 47.

20. विस्तार के लिए द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास – परंपरा में साठोत्तरी उपन्यास : पृ. 147-282 ।
21. द्रष्टव्य : हंस-मार्च : 2010 : पृ. 90 ।
22. द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास का इतिहास : डॉ. गोपाल राय : पृ. 272-398 ।
23. द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : डॉ. त्रिभुवन सिंह : पृ. 767-770 ।
24. द्रष्टव्य : हंस – 2004, 2005, 2006 ।
25. सन् 2007 के उपन्यास : द्रष्टव्य – हंस-जनवरी - 2008 पृ. 89-90 ।
26. सन् 2008 के उपन्यास : हंस-जनवरी - 2009 : पृ. 93-94 ।
27. सन् 2009 के उपन्यास : हंस-जनवरी – 2010 : पृ. 92-93 ।
28. सन् 2010 के उपन्यास : अप्रैल-2010 तक के : हंस – जनवरी, फरवरी, मार्च, अप्रैल : 2010 ।
29. संस्कृत-हिन्दी कोश : डॉ. वामन शिवराम आप्टे : पृ. 739 ।
30. बृहत शिक्षार्थी हिन्दी – अंग्रेजी शब्दकोश : डॉ. हरदेव बाहरी : : पृ. 1259 ।
31. वही : पृ. 1259 ।
32. हिन्दी पर्यायकोश : डॉ. भोलानाथ तिवारी : पृ. 464 ।
33. वही : पृ. 645 ।
34. द्रष्टव्य : हिन्दी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि : डॉ. सुरश अग्रवाल : पृ. 178 ।
35. भाषा विज्ञान : डॉ. भोलानाथ तिवारी : पृ. 4 – 5 ।
36. चिंतनिका : डॉ. पारूकान्त देसाई : पृ. 109-110 ।
37. विस्तार के लिए देखिए : भाषाविज्ञान : डॉ. भोलानाथ तिवारी : पृ. 53 – 54 ।
38. द्रष्टव्य : शब्दों का जीवन : डॉ. भोलानाथ तिवारी : पृ. 11 – 12 ।
39. वही : पृ. 14 ।
40. द्रष्टव्य : काव्य के रूप : डॉ. गुलाबराय : पृ. 157 ।
41. Novel and the People : Ralpha Fox : P. 20.

42. द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डॉ. भारतभूषण अग्रवाल : पृ. 26 ।
43. द्रष्टव्य : हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. नगेन्द्र : पृ. 79-80 ।
44. वही : पृ. 261-262 ।
45. वही : पृ. 262 ।
46. वही : पृ. 262 ।
47. वही : पृ. 263-64 ।
48. वही : पृ. 402-413 ।
49. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 382 ।
50. हित चौरासी टीका : प्रेमदास : हिन्दी साहित्य का इतिहास : डॉ. नगेन्द्र : पृ. 415 ।
51. पोथी सलोत्री की : उद्धृत : डॉ. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ. 415 ।
52. द्रष्टव्य : हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त सुगम इतिहास : डॉ. पारूकान्त देसाई : पृ. 52-54 ।
53. द्रष्टव्य : हंस – 2004, 2005, 2006 ।
54. द्रष्टव्य : काव्य के रूप (गुलाबराय), समीक्षाशास्त्र (डॉ. दशरथ ओझा), काव्यशास्त्र (डॉ. भगीरथ मिश्र, समीक्षायण (डॉ. पारूकान्त देसाई) ।
55. भाग्यवती : पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी : पृ. 9 ।
56. गोदान : प्रेमचद : पृ. 6 ।
57. वही : पृ. 11 ।
58. Novel and the People : Ralpha Fox : P. 20.
59. दलित जाति के लोगों की बोली का एक उदाहरण ।
60. द्रष्टव्य : क्षितिज (गुजराती पत्रिका) : सं. डॉ. सुरेश जोशी : नवलकथा विशेषांक ।
61. सेवासदन : प्रेमचंद : पृ. 124-128 ।
62. अपने अपने राम : डॉ. भगवानसिंह : पृ. 17 ।

63. काशी का अस्सी : काशीनाथ सिंह : पृ. 46 ।

64. वे दिन : निर्मल वर्मा : पृ. 93 ।

65. मुर्दाघर : जगदम्बाप्रसाद दीक्षित : पृ. 149 ।

66. वयं रक्षामः – आचार्य चतुरसेन शास्त्री : पृ. 11 ।

67. मुझे चाँद चाहिए : सुरेन्द्र वर्मा : पृ. 137 ।

68. काशी का अस्सी : काशीनाथ सिंह : पृ. 116-118 ।

69. चारूचन्द्रलेख : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : पृ. 142 ।

70. वयं रक्षाम : -- पृ. 192 ।

71. मुझे चाँद चाहिए : पृ. 120 ।

72. राग दरबारी : श्रीलाल शुक्ल : पृ. 175-176 ।

73. मुख सरोवर के हंस : शैलेश मटियानी : भूमिका से ।

74. बर्फ गिर चुकने के बाद : मटियानी : पृ. 73 ।

75. काशी का अस्सी : पृ. 125-126 ।

76. मुझे चाँद चाहिए : पृ. 104 ।

77. राग दरबारी : पृ. 187 ।

78. हंस-जून-2011 : पृ. 75 ।

79. द्रष्टव्य : परख :जैनेन्द्र : भूमिका ।

80. द्रष्टव्य : विवेक के रंग : स. डॉ. देवीशंकर अवस्थी : पृ. 18 ।

81. 'नया साहित्य : नये प्रश्न' : आचार्य नंददुलारे वाजपेयी : पृ. 182 ।

82. हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास परंपरा में साठोत्तरी उपन्यास : डॉ. पारूकान्त देसाई : पृ. 93 ।

83. गोदान : पृ. 57 ।

84. See : Novel and the People : Ralpha Fox : P. 20.

85. What is Novel and What is it good for : Article : The writers at work : Harper and Brothers : P.8.

86. लेखक की जमीन : डॉ. गोविन्द मिश्र : पृ. 18 ।

87. हौलदार : शैलेश मटियानी : पृ. 252-253 ।

88. राग दरबारी : पृ. 107 ।

89. काशी का अस्सी : पृ. 11 ।

90. वही : पृ. 74 ।

91. वही : पृ. 75 ।

92. वही : पृ. 76 ।

93. काशी का अस्सी : काशीनाथ सिंह : पृ. 64-65 ।

94. वही : पृ. क्रमशः 14, 14, 15, 16, 19, 26, 34, 46, 50, 52, 56, 60, 83, 99, 111, 111, 135, 148 ।

95. वही : पृ. क्रमशः 12, 12, 13, 14, 16, 18, 19, 19, 19, 25, 26, 29, 40, 42, 43, 55, 57, 57, 61, 60, 65, 65, 70, 71, 75, 88, 94, 99, 101, 116, 117, 133, 166, 169 ।

96. मुझे चाँद चाहिए : सुरेन्द्र वर्मा : पृ. 121 ।

97. वही : पृ. 179 ।

98. वही : पृ. 179 ।

99. वही : पृ. 179 ।

* * *